

KOTHARI INSTITUTE



भारतीय इतिहास

अनुक्रमणिका

इकाईयाँ	विवरण	पेज नं.
इकाई-1	प्राचीन भारत : कब, कैसे और कहाँ	1
इकाई-2	हड़प्पा की कहानी	4
इकाई-3	वैदिक युग	7
इकाई-4	जनपद व महाजनपद	8
इकाई-5	बौद्ध व जैन धर्म	11
इकाई-6	सम्राट अशोक	15
इकाई-7	प्राचीनकाल में व्यापार	17
इकाई-8	प्राचीन धर्म	19
इकाई-9	नए साम्राज्य और राज्य	21
इकाई-10	प्राचीनकालीन वास्तुकला, शिल्प, कलाएँ साहित्य व विज्ञान	24
इकाई-11	मध्यकालीन भारत	28
इकाई-12	नए मध्यकालीन राजवंश और उनके राज्य	30
इकाई-13	दिल्ली के सुल्तान	35
इकाई-14	मुगल साम्राज्य	41

इकाई-15	मध्ययुगीन कलाएँ	48
इकाई-16	मध्ययुगीन व्यापार व शिल्प	51
इकाई-17	भक्तिकाल	54
इकाई-18	अठारहवीं शताब्दी में नए राजनीतिक गठन	59
इकाई-19	आधुनिक भारत: कब, कैसे और कहाँ	63
इकाई-20	व्यापार से साम्राज्य तक ब्रिटिश कंपनी की सत्ता	64
इकाई-21	ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना	71
इकाई-22	ब्रिटिश शासन और जनजातीय समुदाय	78
इकाई-23	1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और उसके बाद	82
इकाई-24	ब्रिटिश शासन में शिक्षा का विकास	90
इकाई-25	ब्रिटिश काल में महिलाओं की दशा और जाति व समाज सुधार	93
इकाई-26	राष्ट्रीय आंदोलन का उभार : 1870 के दशक से 1947 तक	98
इकाई-27	स्वतंत्रता के बाद भारत	109
●	सार-संक्षेप	117-122

दो शब्द

संघ लोक सेवा आयोग (यू.पी.एस.सी.) ने सिविल सेवकों के चयन हेतु निम्नांकित पाठ्यक्रम के विषयों का चयन किया है जो सिविल सेवकों को उनके अध्ययन स्तर पर एक उन्नत विचारधारा विकसित करने में मदद करें। पाठ्यक्रम को मुख्य रूप से निम्नलिखित दो रूपों में समझा जा सकता है-

1. स्तम्भ (बाह्य)

1. इतिहास
2. राजनीति
3. भूगोल
4. अर्थ-शास्त्र

2. स्तम्भ (आन्तरिक)

1. तार्किक कौशल एवं विश्लेषणात्मक क्षमता
2. नीतिशास्त्र, सत्यनिष्ठा और अभिप्रति

इतिहास:- इतिहास शब्द से सामान्य तात्पर्य है- भूतकाल में घटित हुआ। प्रश्न यहाँ उठता है कि एक सिविल सेवक को इतिहास के संदर्भ में जानकारी क्यों चाहिए। इसका उजर यह है कि एक सिविल सेवक को मानव समाज के उत्थान, विभिन्न संसाधनों के प्रयोग किए जाने के तरीके विभिन्न राजा प्रशासकों के प्रशासन की जानकारी व उनके दुष्परिणाम, उनके द्वारा प्रचलित की जाने वाली रीतियाँ व संस्कृति इत्यादि की जानकारी प्राप्त हो सकें। इतिहास के प्राचीन मध्यकालीन व आधुनिक खण्डों के माध्यम से अभ्यर्थी को समाज के निर्माण की प्रक्रिया (प्राचीन) विभिन्न वर्गों से संघर्ष (मध्यकालीन) व भारतीय स्वतंत्रता का संघर्ष (आधुनिक) इत्यादि के संदर्भ में जानकारी प्राप्त हो सकेगी जिसका उपयोग वह अपनी प्रशासनिक कार्यवाहियों के समय कर सकता है।

किसी भी राष्ट्र को जानने का आसान तरीका है; उस राष्ट्र की परंपरा, इतिहास, भूगोल व आर्थिक आधार का ज्ञान। यदि हम इन विषयों को जान लेते हैं तो उस राष्ट्र को सच्चे अर्थों में पहचान सकेंगे।

किसी राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, वहाँ के महापुरुषों के जीवन वृत्तांत, उस राष्ट्र की भौगोलिक विशेषताएँ, वहाँ की मिट्टी, जलवायु, वनस्पति तथा वहाँ के आर्थिक आधारभूत ढाँचे का ज्ञान हमें यह सहायता करता है कि हम उस राष्ट्र को उसके सही स्वरूप में पहचान सकें।

कोठारी इंस्टीट्यूट व कोठारी कॉलेज इन्दौर द्वारा प्रस्तुत यह बुकलेट इस संदर्भ में एक विनम्र प्रस्तुति है जिसमें विविध अध्यायों के द्वारा भारत के इतिहास, संस्कृति, भूगोल व आर्थिक विशेषताओं को सहज, सरल ढंग से समझाया गया है। जिससे छात्रगण अपने राष्ट्र को भलीभाँति समझ सकें। छात्रों के लिए यह अत्यंत आवश्यक भी है कि वे अपने राष्ट्र को सच्चे स्वरूप में पहचानें क्योंकि आज के छात्र ही कल के नागरिक होंगे।

आज का छात्र ही कल के राष्ट्र का निर्माण करेंगे और सर्वोत्तम राष्ट्र का निर्माण वे ही छात्र कर सकते हैं, जो अपने राष्ट्र की विशेषताओं, आवश्यकताओं और उसके आधारभूत ढाँचे को समझते और पहचानते हो, इसीलिए कोठारी इंस्टीट्यूट व कोठारी कॉलेज इन्दौर ने एक अभियान, एक मिशन के तौर पर ये बुकलेट प्रस्तुत की है जो न केवल अपने राष्ट्र को जानने में छात्रों के लिए सहायक होगी अपितु आगामी प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता के लिए छात्रों का एक सुदृढ़ आधार भी तैयार करेगी। छात्रों से अपेक्षा है कि वे इस सुविधा का अधिक से अधिक लाभ उठाएँ और स्व-निर्माण से राष्ट्र-निर्माण की ओर अग्रसर हो।

इकाई-1 : प्राचीन भारत : कब, कैसे और कहाँ

देश का नाम

अपने देश के लिए हम प्रायः इण्डिया तथा भारत जैसे नामों का प्रयोग करते हैं। इण्डिया शब्द इण्डस से निकला है जिसे संस्कृत में सिंधु कहा जाता है। लगभग 2500 वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम की ओर से आने वाले ईरानियों और यूनानियों ने सिंधु को हिंदोस अथवा इंदोस और इस नदी के पूर्व में स्थित भूमि प्रदेश को इण्डिया कहा। भारत नाम का प्रयोग उत्तर-पश्चिम में रहने वाले लोगों के एक समूह के लिए किया जाता था। इस समूह का उल्लेख संस्कृत की आरंभिक (लगभग 3500 वर्ष पुरानी) कृति ऋग्वेद में भी मिलता है। बाद में इसका प्रयोग देश के लिए होने लगा।

तिथियों का मतलब

अगर कोई तुमसे तिथि के विषय में पूछे तो तुम शायद उस दिन की तारीख, माह, वर्ष जैसे कि 2000 या इसी तरह का कोई और वर्ष बताओगी। वर्ष की यह गणना ईसाई धर्म-प्रवर्तक ईसा मसीह के जन्म की तिथि से की जाती है। अतः 2000 वर्ष कहने का तात्पर्य ईसा मसीह के जन्म के 2000 वर्ष के बाद से है। ईसा मसीह के जन्म के पूर्व की सभी तिथियाँ ई.पू. (ईसा से पहले) के रूप में जानी जाती हैं। इस पुस्तक में हम 2000 को अपना आरंभिक बिन्दु मानते हुए वर्तमान से पूर्व की तिथियों का उल्लेख करेंगे।

इतिहास और तिथियाँ

अंग्रेजी में बी. सी. (हिंदी में ई.पू.) का तात्पर्य 'बिफोर क्राइस्ट' (ईसा पूर्व) होता है। कभी-कभी तुम तिथियों से पहले ए.डी. (हिंदी में ई.) लिखा पाती हो। यह 'एनो डॉमिनी' नामक दो लैटिन शब्दों से बना है तथा इसका तात्पर्य ईसा मसीह के जन्म के वर्ष से है।

कभी-कभी ए.डी. की जगह सी.ई. तथा बी.सी. की जगह बी.सी.ई. का प्रयोग होता है। सी.ई. अक्षरों का प्रयोग 'कॉमन एरा' तथा बी.सी.ई. का 'बिफोर कॉमन एरा' के लिए होता है। हम इन शब्दों का प्रयोग इसलिए करते हैं क्योंकि विश्व के अधिकांश देश में अब इस कैलेंडर का प्रयोग सामान्य हो गया। भारत में तिथियों के इस रूप का प्रयोग लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था।

कभी-कभी अंग्रेजी के बी.पी. अक्षरों का प्रयोग होता है जिसका तात्पर्य 'बिफोर प्रेजेन्ट' (वर्तमान से पहले) है।

पुरास्थल

पुरास्थल उस स्थान को कहते हैं जहाँ औजार, बर्तन और इमारतों जैसी वस्तुओं के अवशेष मिलते हैं। ऐसी वस्तुओं का निर्माण लोगों ने अपने काम के लिए किया था और बाद में वे उन्हें वहीं छोड़ गए। ये जमीन के ऊपर, अन्दर, कभी-कभी समुद्र और नदी के तल में भी पाए जाते हैं। इन पुरास्थलों के बारे में आपको अगले अध्यायों में बताया जाएगा।

खेती और पशुपालन की शुरुआत

दुनिया की जलवायु बदलती रही है। साथ ही लोग जिन वनस्पतियों और पशुओं का भोजन के रूप में इस्तेमाल करते थे, वे भी बदलते रहे। लोगों का ध्यान कुछ बातों की ओर गया जैसे खाने योग्य वनस्पतियाँ कहाँ-कहाँ मिल सकती हैं, बीज कैसे अपनी डंठल से टूट कर गिरते हैं, गिरे बीजों का अंकुरण और उनसे पौधों का निकलना आदि। इसी तरह उन्होंने पौधों की देखभाल करनी शुरू कर दी होगी। चिड़ियों और जानवरों से पौधों की सुरक्षा की होगी, ताकि वे ठीक से बढ़ सकें और उनके बीज पक सकें। इस प्रकार धीरे-धीरे वे कृषक बन गए होंगे।

इसी तरह लोगों ने अपने घरों के आस-पास चारा रखकर जानवरों को आकर्षित कर उन्हें पालतू बनाया होगा। सबसे पहले जिस जंगली जानवर को पालतू बनाया गया वह कुत्ते का जंगली पूर्वज था। धीरे-धीरे लोग भेड़, बकरी, गाय और सूअर जैसे जानवरों को अपने घरों के नज़दीक आने को उत्साहित करने

NOTES

लगे। ऐसे जानवर झुण्ड में रहते थे और ज्यादातर घास खाते थे। अक्सर लोग अन्य जंगली जानवरों के आक्रमण से इनकी सुरक्षा किया करते थे और इस तरह धीरे-धीरे वे पशुपालक बन गए होंगे।

बसने की प्रक्रिया

लोगों द्वारा पौधे उगाने और जानवरों की देखभाल करने को 'बसने की प्रक्रिया' का नाम दिया गया है। अपनाए गए ये पौधे तथा जानवर अक्सर जंगली पौधों तथा जानवरों से भिन्न होते हैं। इसकी वजह यह है कि बसने की प्रक्रिया की दिशा में अपनाए गए पौधों या जानवरों का लोग चयन करते हैं। उदाहरण के तौर पर लोग उन्हीं पौधों तथा जानवरों का चयन करते हैं जिनके बीमार होने की संभावना कम हो। यही नहीं, लोग उन्हीं पौधों को चुनते हैं जिसने बड़े दाने वाले अनाज पैदा होते हैं; साथ ही जिनकी मज़बूत डंठले अनाज के पक्के दानों के भार को संभाल सकें। ऐसे पौधों के बीजों को संभालकर रखा जाता है ताकि फिर से उगाने के लिए उनके गुण सुरक्षित रह सकें।

उन्हीं जानवरों को आगे प्रजनन के लिए चुना जाता है, जो आमतौर पर अहिंसक होते हैं। इसलिए हम देखते हैं कि पाले गए जानवर तथा कृषि के लिए अपनाए गए पौधे, जंगली जानवरों तथा पौधों से धीरे-धीरे भिन्न होते गए। मिसाल के तौर पर जंगली जानवरों की तुलना में पालतू जानवरों के दाँत और सींग छोटे होते हैं।



इन दाँतों को देखो। इनमें से कौन-सा जंगली सूअर का है और कौन-सा पालतू सूअर का?

बसने की प्रक्रिया पूरी दुनिया में धीरे-धीरे चलती रही। यह करीब 12,000 साल पहले शुरू हुई। वास्तव में आज हम जो भोजन करते हैं वो इसी बसने की प्रक्रिया की वजह से है। कृषि के लिए अपनाई गई सबसे प्राचीन फसलों में गेहूँ तथा जौ आते हैं, उसी तरह सबसे पहले पालतू बनाए गए जानवरों में कुत्ते के बाद भेड़-बकरी आते हैं।

अनाज और हड्डियाँ	पुरास्थल
गेहूँ, जौ, भेड़, बकरी, मवेशी	मेहरगढ़ (आधुनिक पाकिस्तान)
चावल, जानवरों की हड्डियों के टुकड़े	कोल्डिहवा (आधुनिक उत्तर प्रदेश)
चावल, मवेशी (मिट्टी पर खुरों के निशान)	महागढ़ा (आधुनिक उत्तर प्रदेश)
गेहूँ और दलहन	गुफ़क़ाल (आधुनिक कश्मीर)
गेहूँ और दलहन, कुत्ते, मवेशी, भैंस, भेड़, बकरी	बुर्जहोम (आधुनिक कश्मीर)
गेहूँ, हरे चने, जौ, भैंस, बैल	चिराँद (आधुनिक बिहार)
ज्वार-बाजरा, मवेशी, भेड़, बकरी, सूअर	हल्लूर (आधुनिक आंध्रप्रदेश)
काला चना, ज्वार-बाजरा, मवेशी, भेड़, सूअर	पैय्यमपल्ली (आधुनिक आंध्रप्रदेश)

जिन जगहों पर अनाज तथा हड्डियों के अवशेष मिले हैं, ये उनमें से सिर्फ कुछ ही हैं।

NOTES

जनजाति

प्रायः जनजाति के लोग छोटी-छोटी बस्तियों में रहते हैं। ज्यादातर परिवार एक-दूसरे से संबंधित होते हैं और इस तरह के परिवारों के समूह मिलकर जनजाति का निर्माण करते हैं।

- जनजाति के सदस्य शिकार, भोजन-संग्रह, खेती, पशुपालन और मछली पकड़ने जैसे पेशे अपनाते हैं। अक्सर महिलाएँ खेती का सारा काम करती हैं। इसमें ज़मीन तैयार कर बीज बोने, पौधे की देखभाल करने से लेकर फसल काटने तक का काम शामिल है। बच्चे पौधों की देखभाल करते हैं और चिड़ियों और जानवरों को दूर भगाते हैं ताकि वे पौधों और फसलों को नुकसान न पहुँचाए। महिलाएँ फसल दावकर अनाज कूटती-पीसती हैं। पुरुष आमतौर पर पशुओं के बड़े-बड़े झुण्डों को चराते हैं जबकि बच्चे छोटे झुण्डों को। यहाँ जानवरों की सफाई तथा दूध निकालने का काम स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर करते हैं। उसी तरह दोनों मिलकर बर्तन बनाने, टोकरियाँ बुनने, औज़ार तथा झोपड़ियाँ बनाने का काम भी साथ-साथ करते हैं। गाना, नाच और घरों की सजावट भी उनकी जिंदगी का एक अहम हिस्सा है।
- कुछ व्यक्तियों को नेता मान लिया जाता है। वे अनुभवी वृद्ध व्यक्ति, नौजवान योद्धा या फिर पुरोहित हो सकते हैं। वयस्क महिलाओं को भी उनके ज्ञान तथा अनुभव के लिए विशिष्ट सम्मान दिया जाता है।
- जनजातियों की सांस्कृतिक-परम्पराएँ बहुत समृद्ध तथा विशिष्ट होती हैं। इनमें उनकी भाषाएँ, संगीत, कहानियाँ तथा चित्रकारी भी शामिल हैं। उनके अपने देवी-देवता होते हैं।
- जमीन, जंगल, घास के मैदान तथा पानी पूरे कुनबे की सम्पत्ति मानी जाती है जिनका उपयोग सभी एक साथ करते हैं। इनमें गरीब और अमीर के बीच कोई खास अंतर नहीं होता। इसलिए जनजातीय समाज अन्य समाजों से भिन्न होते हैं।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-2 : हड़प्पा की कहानी

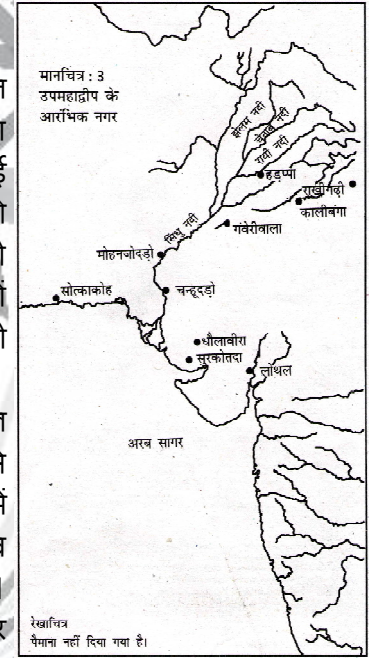
हड़प्पा की कहानी

अक्सर पुरानी इमारत अपनी कहानी बताती है। लगभग 150 साल पहले जब पंजाब में पहली बार रेल्वे लाइनें बिछाई जा रही थीं, तो इस काम में जुटे इंजीनियरों को अचानक हड़प्पा पुरास्थल मिला, जो आधुनिक पाकिस्तान में है। उसके बाद लगभग 80 साल पहले पुरातत्वविदों ने इस स्थल को ढूँढा और तब पता चला कि यह खंडहर उपमहाद्वीप के सबसे पुराने शहरों में से एक है। चूँकि इस नगर की खोज सबसे पहले हुई थी, इसीलिए बाद में मिलने वाले इस तरह के सभी पुरास्थलों में जो इमारतें और चीजें मिलीं उन्हें हड़प्पा सभ्यता की इमारतें कहा गया। इन शहरों का निर्माण लगभग 4700 साल पहले हुआ था।

इन नगरों की विशेषता क्या थीं?

इन नगरों में से कोई को दो या उससे ज्यादा हिस्सों में विभाजित किया गया था। प्रायः पश्चिमी भाग छोटा था लेकिन ऊँचाई पर बना था और पूर्वी हिस्सा बड़ा था लेकिन यह निचले इलाके में था। ऊँचाई वाले भाग को पुरातत्वविदों ने नगर-दुर्ग कहा है और निचले हिस्से को निचला-नगर कहा है। दोनों हिस्सों की चारदीवारियाँ पकी ईंटों की बनाई जाती थीं। इसकी ईंटें इतनी अच्छी पकी थी कि हजारों सालों बाद आज तक उनकी दीवारें खड़ी रहीं। दीवार बनाने के लिए ईंटों की चिनाई इस तरह करते थे जिससे कि दीवारें खूब मजबूत रहें।

कुछ नगरों के नगर-दुर्ग में कुछ खास इमारतें बनाई गई थी। मिसाल के तौर पर मोहनजोदड़ों में खास तालाब बनाया गया था, जिसे पुरातत्वविदों ने महान स्नानागार कहा है। इस तालाब को बनाने में ईंटें और प्लास्टर का इस्तेमाल किया गया था। इसमें पानी का रिसाव रोकने के लिए प्लास्टर के ऊपर चारकोल की परत चढ़ाई गई थी। इस सरोवर में दो तरफ से उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई थीं, और चारों ओर कमरे बनाए गए थे। इसमें भरने के लिए पानी कुएँ से निकाला जाता था। शायद यहाँ विशिष्ट नागरिक विशेष अवसरों पर स्नान किया करते थे।



महान स्नानागार

NOTES



हड़प्पा के नगरों में ईंटों की चिनाई



नगरीय जीवन



NOTES

फ़ेयेंन्स

हड़प्पाकालीन शिल्प पत्थर और शंख प्राकृतिक तौर पर पाए जाते हैं, लेकिन फ़ेयेंन्स को कृत्रिम रूप से तैयार किया जाता है। बालू या स्फटिक पत्थरों के चूर्ण को गोंद में मिलाकर उनसे वस्तुएँ बनाई जाती थीं। उसके बाद उन वस्तुओं पर एक चिकनी परत चढ़ाई जाती थी। इस चिकनी परत के रंग प्रायः नीले या हल्के समुद्री हरे होते थे।

फ़ेयेंन्स से मनके, चूड़ियाँ, बाले और छोटे बर्तन बनाए जाते थे।



मुद्रा (मुहर) और मुद्रांकन या मुहरबंदी



मुहरों का प्रयोग सामान से भरे उन डिब्बों या थैलों को चिह्नित करने के लिए किया जाता होगा, जिन्हें एक जगह से दूसरी जगह भेजा जाता था। थैले को बंद करने के बाद उनके मुहानों पर गीली मिट्टी पोत कर उन पर मुहर लगाई जाती थी। मुहर की छाप को मुहरबन्दी कहते हैं।

अगर यह छाप टूटी हुई नहीं होती थी, तो यह साबित हो जाता था, कि सामान के साथ छेड़-छाड़ नहीं हुई है।

आज भी मुहर का प्रयोग होता है।

सभ्यता के अंत का रहस्य

लगभग 3900 साल पहले एक बड़ा बदलाव देखने को मिलता है। अचानक लोगों ने इन नगरों को छोड़ दिया। लेखन, मुहर और बाटों का प्रयोग बंद हो गया। दूर-दूर से कच्चे माल का आयात काफी कम हो गया। मोहनजोदड़ों में सड़कों पर कचरे के ढेर बनने लगे। जलनिकास प्रणाली नष्ट हो गई और सड़कों पर ही झुग्गीनुमा घर बनाए जाने लगे।

यह सब क्यों हुआ? कुछ पता नहीं। कुछ विद्वानों का कहना है, कि नदियाँ सूख गई थीं। अन्य का कहना है, कि जंगलों का विनाश हो गया था। इसका कारण ये हो सकता है, कि ईंटें पकाने के लिए ईंधन की जरूरत पड़ती थी। इसके अलावा मवेशियों के बड़े-बड़े झुंडों से चारागाह और घास वाले मैदान समाप्त हो गए होंगे। कुछ इलाकों में बाढ़ आ गई। लेकिन इन कारणों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि सभी नगरों का अंत कैसे हो गया। क्योंकि बाढ़ और नदियों के सूखने का असर कुछ ही इलाकों में हुआ होगा।

ऐसा लगता है, कि शासकों का नियंत्रण समाप्त हो गया। जो भी हुआ हो, परिवर्तन का असर बिल्कुल साफ दिखाई देता है। आधुनिक पाकिस्तान के सिंध और पंजाब की बस्तियाँ उजड़ गई थीं। कई लोग पूर्व और दक्षिण के इलाकों में नई और छोटी बस्तियों में जाकर बस गए।

इसके लगभग 1400 साल बाद नए नगरों का विकास हुआ।



वैदिक युग

शायद तुमने वेदों के बारे में सुना होगा। वेद चार हैं - ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। सबसे पुराना वेद है, ऋग्वेद, जिसकी रचना लगभग 3500 साल पहले हुई। ऋग्वेद में एक हजार से ज्यादा प्रार्थनाएँ हैं जिन्हें, सूक्त कहा गया है। सूक्त का मतलब है, अच्छी तरह से बोला गया। ये विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति में रचे गए हैं। इनमें से तीन देवता बहुत महत्वपूर्ण हैं : अग्नि, इन्द्र और सोम। अग्नि आग के देवता, इन्द्र युद्ध के देवता हैं और सोम एक पौधा है, जिससे एक खास पेय बनाया जाता था।

वर्ण

इस समय उत्तर भारत में, खासकर गंगा-यमुना क्षेत्र में, कई ग्रंथ रचे गए। ऋग्वेद के बाद रचे होने के कारण ये उत्तर-वैदिक ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके अंतर्गत सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा अन्य ग्रंथ शामिल हैं। पुरोहितों द्वारा रचित इन ग्रंथों में विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान और उनके संपादन की विधियाँ बताई गई हैं। इनमें सामाजिक नियमों के बारे में भी बताया गया है।

उस समय समाज में कई समूह थे जिनमें पुरोहित, योद्धा, कृषक, पशुपालक, व्यापारी, शिल्पकार, श्रमिक, मछली पकड़ने वाले तथा जंगल में रहने वाले लोग शामिल थे। जहाँ कुछ पुरोहित तथा योद्धा वैभवशाली थे, वहीं कुछ कृषक और व्यापारी भी धनवान थे। दूसरी ओर पशुपालक, शिल्पकार, श्रमिक, मछली पकड़ने वाले, शिकारी तथा भोजन-संग्राहक निर्धन थे।

पुरोहितों ने लोगों को चार वर्गों में विभाजित किया, जिन्हें वर्ण कहते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वर्ण के अलग-अलग कार्य निर्धारित थे। पहला वर्ण ब्राह्मणों का था। उनका काम वेदों का अध्ययन-अध्यापन और यज्ञ करना था जिनके लिए उन्हें उपहार मिलता था। दूसरा स्थान शासकों का था, जिन्हें क्षत्रिय कहा जाता था। उनका काम युद्ध करना और लोगों की रक्षा करना था। तीसरे स्थान पर विश्व या वैश्य थे। इनमें कृषक, पशुपालक और व्यापारी आते थे। क्षत्रिय और वैश्य दोनों को ही यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था। वर्णों में अंतिम स्थान शूद्रों का था। इनका काम अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। इन्हें कोई अनुष्ठान करने का अधिकार नहीं था। प्रायः औरतों को भी शूद्रों के समान माना गया। महिलाओं तथा शूद्रों को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था।

वैदिक प्रार्थनाओं की रचना ऋषियों ने की थी। आचार्य विद्यार्थियों को इन्हें अक्षरों, शब्दों और वाक्यों में बाँटकर, सस्वर पाठ द्वारा कंठस्थ करवाते थे। अधिकांश सूक्तों के रचयिता, सीखने और सिखाने वाले पुरुष थे। कुछ प्रार्थनाओं की रचना महिलाओं ने भी की थी। ऋग्वेद की भाषा प्राक् संस्कृत या वैदिक संस्कृत कहलाती है।

हम जिन किताबों को पढ़ते हैं वे लिखी और छपी गई हैं। ऋग्वेद का उच्चारण किया जाता था और श्रवण किया जाता था न कि पढ़ा जाता था। रचना के कई सदियों बाद इसे पहली बार लिखा गया। इसे छापने का काम तो मुश्किल से दो सौ साल पहले हुआ।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

- वेदों की रचना का प्रारंभ (लगभग 3500 साल पहले)
- महापाषाणों के निर्माण की शुरुआत (लगभग 3000 साल पहले)
- इनामगाँव में कृषकों का निवास (3600 से 2700 साल पहले)
- चरक (लगभग 2000 साल पहले)

इकाई-4 : जनपद व महाजनपद

जनपद

महायज्ञों को करने वाले राजा अब जन के राजा न होकर जनपदों के राजा माने जाने लगे। जनपद का शाब्दिक अर्थ जन के बसने की जगह होता है। कुछ महत्वपूर्ण जनपद मानचित्र में दिखाए गए हैं।



पुरातत्वविदों ने इन जनपदों की कई बस्तियों की खुदाई की है। दिल्ली में पुराना किला, उत्तर प्रदेश में मेरठ के पास हस्तिनापुर और एटा के पास अतरंजीखेड़ा इनमें प्रमुख हैं। खुदाई से पता चला है कि लोग झोपड़ियों में रहते थे और मवेशियों तथा अन्य जानवरों को पालते थे। वे चावल, गेहूँ, धान, जौ, दालें, गन्ना, तिल तथा सरसों जैसी फसलें उगाते थे।

लोग मिट्टी के बर्तन भी बनाते थे। इनमें कुछ धूसर और कुछ लाल रंग के होते थे। इन पुरास्थलों में कुछ विशेष प्रकार के बर्तन मिले हैं, जिन्हें 'चित्रित-धूसर पात्र' के रूप में जाना जाता है। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, इन बर्तनों पर चित्रकारी की गई है। ये आमतौर पर सरल रेखाओं तथा ज्यामितीय आकृतियों के रूप में हैं।

चित्रित धूसर पात्र। इस तरह के पात्रों में ज्यादातर थालियाँ और कटोरियाँ ही मिली हैं। ये पात्र बहुत की पतली सतह के सुंदर और चिकने हैं। शायद इसका प्रयोग खास मौकों पर, महत्वपूर्ण लोगों को भोजन परोसने के लिए किया जाता था।



महाजनपद

करीब 2500 साल पहले, कुछ जनपद अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इन्हें महाजनपद कहा जाने लगा। अधिकतर महाजनपदों की एक राजधानी होती थी। कई राजधानियों में किलेबंदी की गई थी अर्थात् इनके चारों ओर लकड़ी, ईंट या पत्थर की ऊँची दीवारें बनाई गई थीं।

NOTES

ऐसा लगता है कि लोगों ने अन्य राजाओं के आक्रमण से डरकर अपनी सुरक्षा के लिए इन किलों का निर्माण किया। कुछ राजा अपनी राजधानी के चारों ओर विशाल, ऊँची और प्रभावशाली दीवार खड़ी कर अपनी समृद्धि और शक्ति का प्रदर्शन भी करते थे। इस तरह से किले के अंदर रहने वाले लोगों और उस क्षेत्र पर नियंत्रण रखना भी सरल हो जाता होगा। इस तरह की विशाल दीवार बनाने के लिए व्यापक योजना की आवश्यकता थी और लाखों की संख्या में ईंटों तथा पत्थरों का इंतजाम करना पड़ता था। हजारों स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों ने इसके लिए अथक परिश्रम किया होगा। इनके लिए संसाधनों की आवश्यकता पड़ती होगी।

अब राजा सेना रखने लगे थे। सिपाहियों को नियमित वेतन देकर पूरे साल रखा जाता था। कुछ भुगतान संभवतः आहत सिक्कों के रूप में होता था।

कृषि में परिवर्तन

इस युग में कृषि के क्षेत्र में दो बड़े परिवर्तन आए। हल के फाल अब लोहे के बनने लगे। अब कठोर जमीन को लकड़ी के फल की तुलना में लोहे के फाल से आसानी से जोता जा सकता था। इससे फसलों की उपज बढ़ गई। दूसरे, लोगों ने धान के पौधों का रोपण शुरू किया अर्थात् खेतों में बीज छिड़ककर धान उपजाने के बजाए धान की पौधे तैयार कर उनका रोपण शुरू किया गया। अब पहले की तुलना में बहुत ज्यादा पौधे जीवित रह जाते थे, इसलिए पैदावार भी ज्यादा होने लगी। इसमें कमरतोड़ परिश्रम लगता था। ये काम ज्यादातर दास, दासी तथा भूमिहीन खेतिहार मजदूर (कम्मकार) करते थे।

सूक्ष्म-निरीक्षण

प्रमुख महाजनपद

(क) मगध

लगभग दो सौ सालों के भीतर मगध सबसे महत्वपूर्ण जनपद बन गया। गंगा और सोन जैसी नदियाँ मगध से होकर बहती थीं। ये (क) यातायात, (ख) जल-वितरण और (ग) जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण थीं। मगध का एक हिस्सा जंगलों से भरा था। इन जंगलों में रहने वाले हाथियों को पकड़ कर और उन्हें प्रशिक्षित कर सेना के काम में लगाया जाता था। यही नहीं, जंगलों से घर, गाड़ियाँ, तथा रथ बनाने के लिए लकड़ी मिलती थी। इसके अलावा इस क्षेत्र में लौह अयस्क की खदानें हैं। मजबूत औजार और हथियार बनाने के लिए ये बहुत उपयोगी थे।

मगध में दो बहुत ही शक्तिशाली शासक बिम्बिसार तथा अजातसत्रु (अजातशत्रु) हुए। अन्य जनपदों को जीतने के लिए ये हर संभव साधन अपनाते थे। महापदमनंद एक और महत्वपूर्ण शासक थे। उन्होंने अपने नियंत्रण का क्षेत्र इस उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग तक फैला लिया था। बिहार में राजगृह (आधुनिक राजगीर) कई सालों तक मगध की राजधानी बनी रही। बाद में पाटलिपुत्र (आज का पटना) को राजधानी बनाया गया।

2300 साल से भी पहले की बात है, मेसिडोनिया का राजा सिकन्दर विश्व-विजय करना चाहता था। पूरी तरह सफल न होने पर भी वह मिस्र और पश्चिमी एशिया के कुछ राज्यों को जीतता हुआ भारतीय

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

- नए जनपद (लगभग 3000 साल पहले)
- महाजनपद
- (लगभग 2500 साल पहले)
- सिकन्दर का आक्रमण, दीर्घ निकाय का लेखन (लगभग 2300 साल पहले)
- गण या संघ राज्यों का अंत (लगभग 1500 साल पहले)

NOTES

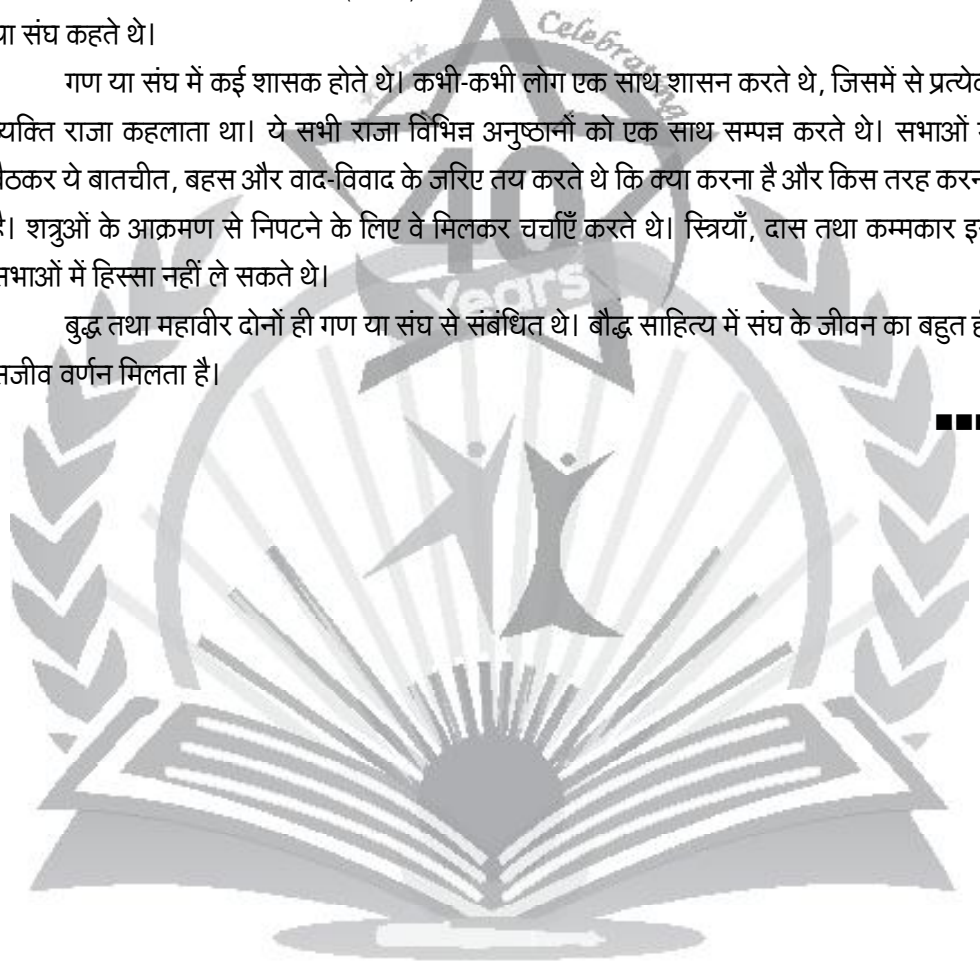
उपमहाद्वीप में व्यास नदी के किनारे तक पहुँच गया। जब उसने मगध की ओर कूच करना चाहा, तो उसके सिपाहियों ने इंकार कर दिया। वे इस बात से भयभीत थे, कि भारत के शासकों के पास पैदल, रथ और हाथियों की बहुत बड़ी सेना थी।

(ख) वज्जि

जैसा कि तुमने ऊपर पढ़ा, मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। उसके नज़दीक ही वज्जि राज्य था, जिसकी राजधानी वैशाली (बिहार) थी। यहाँ एक अलग किस्म की शासन-व्यवस्था थी जिसे गण या संघ कहते थे।

गण या संघ में कई शासक होते थे। कभी-कभी लोग एक साथ शासन करते थे, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति राजा कहलाता था। ये सभी राजा विभिन्न अनुष्ठानों को एक साथ सम्पन्न करते थे। सभाओं में बैठकर ये बातचीत, बहस और वाद-विवाद के जरिए तय करते थे कि क्या करना है और किस तरह करना है। शत्रुओं के आक्रमण से निपटने के लिए वे मिलकर चर्चाएँ करते थे। स्त्रियाँ, दास तथा कम्मकार इन सभाओं में हिस्सा नहीं ले सकते थे।

बुद्ध तथा महावीर दोनों ही गण या संघ से संबंधित थे। बौद्ध साहित्य में संघ के जीवन का बहुत ही सजीव वर्णन मिलता है।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

बौद्ध व जैन धर्म

बौद्ध धर्म के संस्थापक सिद्धार्थ थे जिन्हें गौतम के नाम से भी जाना जाता है। उनका जन्म लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुआ था। यह वह समय था जब लोगों के जीवन में तेज़ी से परिवर्तन हो रहे थे। महाजनपदों के कुछ राजा इस समय बहुत शक्तिशाली हो गए थे। हज़ारों सालों के बाद फिर से नगर उभर रहे थे। गाँवों के जीवन में भी बदलाव आ रहा था। बहुत-से विचारक इन परिवर्तनों को समझने का प्रयास कर रहे थे। वे जीवन के सच्चे अर्थ को भी जानना चाह रहे थे।

बुद्ध क्षत्रिय थे तथा 'शाक्य' नामक एक छोटे से गण से संबंधित थे। युवावस्था में ही ज्ञान की खोज में उन्होंने घर के सुखों को छोड़ दिया। अनेक वर्षों तक वे भ्रमण करते रहे तथा अन्य विचारकों से मिलकर चर्चा करते रहे। अंततः ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने स्वयं ही रास्ता ढूँढ़ने का निश्चय किया। इसके लिए उन्होंने बोध गया (बिहार) में एक पीपल के नीचे कई दिनों तक तपस्या की। अंततः उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद से वे बुद्ध के रूप में जाने गए। यहाँ से वे वाराणसी के निकट स्थित सारनाथ गए, जहाँ उन्होंने पहली बार उपदेश दिया। कुशीनारा में मृत्यु से पहले का शेष जीवन उन्होंने पैदल ही एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करने और लोगों को शिक्षा देने में व्यतीत किया।

बुद्ध ने शिक्षा दी कि यह जीवन कष्टों और दुखों से भरा हुआ है और ऐसा हमारी इच्छा और लालसाओं (जो हमेशा पूरी नहीं हो सकती) के कारण होता है। कभी-कभी हम जो चाहते हैं वह प्राप्त कर लेने के बाद भी संतुष्ट नहीं होते हैं एवं और अधिक (अथवा अन्य) वस्तुओं को पाने की इच्छा करने लगते हैं। बुद्ध ने इस लिप्सा को तृष्णा कहा है। बुद्ध ने शिक्षा दी कि आत्मसंयम अपनाकर हम ऐसी लालसा से मुक्ति पा सकते हैं।

उन्होंने लोगों को दयालु होने तथा मनुष्यों के साथ-साथ जानवरों के जीवन का भी आदर करने की शिक्षा दी। वे मानते थे कि हमारे कर्मों के परिणाम, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, हमारे वर्तमान जीवन के साथ-साथ बाद के जीवन को भी प्रभावित करते हैं। बुद्ध ने अपनी शिक्षा सामान्य लोगों की प्राकृत भाषा में दी। इससे सामान्य लोग भी उनके संदेश को समझ सके।

बुद्ध ने कहा कि लोग किसी शिक्षा को केवल इसलिए नहीं स्वीकार करें कि यह उनका उपदेश है, बल्कि वे उसे अपने विवेक से मापें।

उपनिषद्

जिस समय बुद्ध उपदेश दे रहे थे उसी समय या उससे भी थोड़ा पहले दूसरे अन्य चिंतक भी कठिन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास कर रहे थे। उनमें से कुछ मृत्यु के बाद के जीवन के बारे में जानना चाहते थे जबकि अन्य यज्ञों की उपयोगिता के बारे में जानने को उत्सुक थे। इनमें से अधिकांश चिंतकों का यह मानना था कि इस विश्व में कुछ तो ऐसा है जो कि स्थायी है और जो मृत्यु के बाद भी बचा रहता है। उन्होंने इसका वर्णन

भारतीय दर्शन की छह पद्धति (षडदर्शन)

सदियों से, भारत द्वारा सत्य की बौद्धिक खोज का प्रतिनिधित्व दर्शन की छः शाखाओं ने किया। ये वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और वेदांत या उत्तर मीमांसा के नाम से जाने जाते हैं। दर्शन की इन छः पद्धतियों की स्थापना क्रमशः ऋषि कणद, गौतम, कपिल, पतंजलि, जैमिनी और व्यास द्वारा की गयी मानी जाती है, जो आज भी देश में बौद्धिक चर्चा को दिशा देते हैं। जर्मन मूल के ब्रिटिश भारतविद फ्रेडरिक मैक्समूलर के अनुसार दर्शन की इन छः शाखाओं का विकास कई पीढ़ियों के दौरान व्यक्तिगत विचारकों के योगदान से हुआ। यद्यपि ये एक दूसरे से भिन्न दिखते हैं तथापि सत्य की इनकी समझ में आधारभूत तालमेल दिखता है।

NOTES

आत्मा तथा ब्रह्म अथवा सार्वभौम आत्मा के रूप में किया है। वे मानते थे कि अंततः आत्मा तथा ब्रह्म एक ही हैं।

ऐसे कई विचारों का संकलन उपनिषदों में हुआ है। उपनिषद् उत्तर वैदिक ग्रंथों का हिस्सा थे। उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है 'गुरु के समीप बैठना'। इन ग्रंथों में अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच बातचीत का संकलन किया गया है। प्रायः ये विचार सामान्य वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

इन चर्चाओं में भाग लेने वाले अधिकांशतः पुरुष ब्राह्मण तथा राजा होते थे। कभी-कभी गार्गी जैसी स्त्री-विचारकों का भी उल्लेख मिलता है। विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध गार्गी राजदरबारों में होने वाले वाद-विवाद में भाग लिया करती थीं। निर्धन व्यक्ति इस तरह के वाद-विवाद में बहुत कम ही हिस्सा लेते थे। इस तरह का एक प्रसिद्ध अपवाद सत्यकाम जाबाल का है। सत्यकाम जाबाल का नाम उसकी दासी माँ के नाम पर पड़ा। सत्यकाम के मन में सत्य जानने की तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई। गौतम नामक एक ब्राह्मण ने उन्हें अपने विद्यार्थी के रूप में स्वीकार किया तथा वह अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध विचारकों में से एक बन गए। उपनिषदों के कई विचारों का विकास बाद में प्रसिद्ध विचारक शंकराचार्य के द्वारा किया गया।

व्याकरणविद् पाणिनि

इस युग में कुछ अन्य विद्वान भी खोज कर रहे थे। उन्हीं प्रसिद्ध विद्वानों में एक पाणिनि ने संस्कृत भाषा के व्याकरण की रचना की। उन्होंने स्वरों तथा व्यंजनों को एक विशेष क्रम में रखकर उनके आधार पर सूत्रों की रचना की। ये सूत्र बीजगणित के सूत्रों से काफी मिलते-जुलते हैं। इसका प्रयोग कर उन्होंने संस्कृत भाषा के प्रयोगों के नियम लघु सूत्रों (लगभग 3000) के रूप में लिखे।

जैन धर्म

इसी युग में अर्थात् लगभग 2500 वर्ष पूर्व जैन धर्म के 24वें तथा अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने भी अपने विचारों का प्रसार किया। वह वज्जि संघ के लिच्छवि कुल के एक क्षत्रिय राजकुमार थे। 30 वर्ष की आयु में उन्होंने घर छोड़ दिया और जंगल में रहने लगे। बारह वर्ष तक उन्होंने कठिन व एकाकी जीवन व्यतीत किया। इसके बाद उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ।

उनकी शिक्षा सरल थी। सत्य जानने की इच्छा रखने वाले प्रत्येक स्त्री व पुरुष को अपना घर छोड़ देना चाहिए। उन्हें अहिंसा के नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए अर्थात् किसी भी जीव को न तो कष्ट देना चाहिए और न ही उसकी हत्या करनी चाहिए। महावीर का कहना था, "सभी जीव जीना चाहते हैं। सभी के लिए जीवन प्रिय है।" महावीर ने अपनी शिक्षा प्राकृत में दी। यही कारण है कि साधारण जन भी उनके तथा उनके अनुयायियों की शिक्षाओं को समझ सके। देश के अलग-अलग हिस्सों में प्राकृत के अलग-अलग रूप प्रचलित थे। प्रचलन क्षेत्र के आधार पर ही उनके अलग-अलग नाम थे जैसे मगध में बोली जाने वाली प्राकृत, मागधी कहलाती थी।

जैन नाम से जाने गए महावीर के अनुयायियों को भोजन के लिए भिक्षा माँगकर सादा जीवन बिताना होता था। उन्हें पूरी तरह से ईमानदार होना पड़ता था तथा चोरी न करने की उन्हें सख्त हिदायत थी। उन्हें ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। पुरुषों को वस्त्रों सहित सब कुछ त्याग देना पड़ता था।

अधिकांश व्यक्तियों के लिए ऐसे कड़े नियमों का पालन करना बहुत कठिन था। फिर भी हजारों व्यक्तियों ने इस नई जीवन शैली को जानने और सीखने के लिए अपने घरों को छोड़ दिया। कई अपने घरों पर ही रहें और भिक्षु-भिक्षुणी बने लोगों को भोजन प्रदान कर उनकी सहायता करते रहे।

मुख्यतः व्यापारियों ने जैन धर्म का समर्थन किया। किसानों के लिए इन नियमों का पालन अत्यंत कठिन था क्योंकि फसल की रक्षा के लिए उन्हें कीड़े-मकौड़ों को मारना पड़ता था। बाद की सदियों में जैन

NOTES

धर्म, उत्तर भारत के कई हिस्सों के साथ-साथ गुजरात, तमिलनाडु और कर्नाटक में भी फैल गया। महावीर तथा उनके अनुयायियों की शिक्षाएँ कई शताब्दियों तक मौखिक रूप में ही रहीं। वर्तमान रूप में उपलब्ध जैन धर्म की शिक्षाएँ लगभग 1500 वर्ष पूर्व गुजरात में वल्लभी नामक स्थान पर लिखी गई थीं।

संघ

महावीर तथा बुद्ध दोनों का ही मानना था कि घर का त्याग करने पर ही सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने संघ नामक संगठन बनाया जहाँ घर का त्याग करने वाले लोग एक साथ रह सकें।

संघ में रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनाए गए नियम विनयपिटक नामक ग्रंथ में मिलते हैं। विनयपिटक से हमें पता चलता है कि संघ में पुरुषों और स्त्रियों के रहने की अलग-अलग व्यवस्था थी। सभी व्यक्ति संघ में प्रवेश ले सकते थे। हालाँकि संघ में प्रवेश के लिए बच्चों को अपने माता-पिता से, दासों को अपने स्वामी से, राजा के यहाँ काम करने वाले लोगों को राजा से, तथा कर्जदारों को अपने देनदारों से अनुमति लेनी होती थी। एक स्त्री को इसके लिए अपने पति से अनुमति लेनी होती थी।

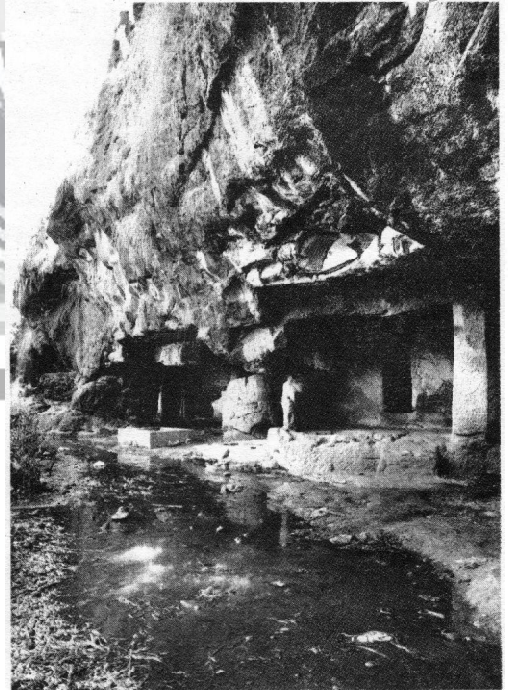
संघ में प्रवेश लेने वाले स्त्री-पुरुष बहुत सादा जीवन जीते थे। वे अपना अधिकांश समय ध्यान करने में बिताते थे और दिन के एक निश्चित समय में वे शहरों तथा गाँवों में जाकर भिक्षा माँगते थे। यही कारण है कि उन्हें भिक्षु तथा भिक्षुणी (साधु-भिखारी के लिए प्राकृत शब्द) कहा गया। वे आम लोगों को शिक्षा देते थे और साथ ही एक-दूसरे की सहायता भी करते थे। किसी तरह की आपसी लड़ाई का निपटारा करने के लिए वे प्रायः बैठकें भी किया करते थे।

संघ में प्रवेश लेने वालों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, व्यापारी, मजदूर, नाई, गणिकाएँ तथा दास शामिल थे। इनमें से कई लोगों ने बुद्ध की शिक्षाओं के विषय में लिखा तथा कुछ लोगों ने संघ में अपने जीवन के विषय में सुंदर कविताओं की रचना की।

विहार

जैन तथा बौद्ध भिक्षु पूरे साल एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुए उपदेश दिया करते थे। केवल वर्षा ऋतु में जब यात्रा करना कठिन हो जाता था तो वे एक स्थान पर ही निवास करते थे। ऐसे समय वे अपने अनुयायियों द्वारा उद्यानों में बनवाए गए अस्थायी निवासों में अथवा पहाड़ी क्षेत्रों की प्राकृतिक गुफाओं में रहते थे।

जैसे-जैसे समय बीतता गया भिक्षु-भिक्षुणियों ने स्वयं तथा उनके समर्थकों ने अधिक स्थायी शरणस्थलों की आवश्यकता का अनुभव किया। तब कई शरणस्थल बनाए गए जिन्हें विहार कहा गया। आरंभिक विहार लकड़ी के बनाए गए तथा बाद में इनके निर्माण में ईंटों का प्रयोग होने लगा। पश्चिमी भारत में विशेषकर कुछ विहार पहाड़ियों को खोद कर बनाए गए।



पहाड़ी को काटकर बनाई गई एक गुफा। यह कार्ले (वर्तमान महाराष्ट्र में) स्थित एक गुफा है। भिक्षु-भिक्षुणी इन शरण स्थलों में रहकर ध्यान किया करते थे।

NOTES

प्रायः किसी धनी व्यापारी, राजा अथवा भू-स्वामी द्वारा दान में दी गई भूमि पर विहार का निर्माण होता था। स्थानीय व्यक्ति भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भोजन, वस्त्र तथा दवाईयाँ लेकर आते थे जिसके बदले ये भिक्षु और भिक्षुणी लोगों को शिक्षा देते थे। आगे आने वाली शताब्दियों में बौद्ध धर्म उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों के साथ-साथ बाहरी क्षेत्रों में भी फैल गया।

आश्रम-व्यवस्था

जैन तथा बौद्ध धर्म जिस समय लोकप्रिय हो रहे थे लगभग उसी समय ब्राह्मणों ने आश्रम-व्यवस्था का विकास किया।

यहाँ आश्रम शब्द का तात्पर्य लोगों द्वारा रहने तथा ध्यान करने के लिए प्रयोग में आने वाले स्थान से नहीं है, बल्कि इसका तात्पर्य जीवन के एक चरण से है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास नामक चार आश्रमों की व्यवस्था की गई।

ब्रह्मचर्य के अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि इस चरण के दौरान वे सादा जीवन बिताकर वेदों का अध्ययन करेंगे।

गृहस्थ आश्रम के अंतर्गत उन्हें विवाह कर एक गृहस्थ के रूप में रहना होता था। वानप्रस्थ के अंतर्गत उन्हें जंगल में रहकर साधना करनी थी। अंततः उन्हें सब कुछ त्यागकर संन्यासी बन जाना था।

आश्रम व्यवस्था ने लोगों को अपने जीवन का कुछ हिस्सा ध्यान में लगाने पर बल दिया।

प्रायः स्त्रियों को वेद पढ़ने की अनुमति नहीं थी और उन्हें अपने पतियों द्वारा पालन किए जाने वाले आश्रमों का ही अनुसरण करना होता था।

संघ के जीवन से आश्रमों की यह व्यवस्था किस तरह भिन्न थी? यहाँ किन वर्णों का उल्लेख हुआ है? क्या सभी चार वर्णों को यह आश्रम व्यवस्था अपनाने की अनुमति थी?

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

- उपनिषदों के विचारक, जैन महावीर तथा बुद्ध (लगभग 2500 वर्ष पूर्व)
- जैन ग्रंथों का लेखन (लगभग 1500 वर्ष पूर्व)

NOTES

इकाई-6 : सम्राट अशोक

कलिंग युद्ध का वर्णन करता हुआ अशोक का अभिलेख

अपने एक अभिलेख में अशोक ने यह बात कही :

“राजा बनने के आठ साल बाद मैंने कलिंग विजय की।

लगभग डेढ़ लाख लोग बंदी बना लिए गए। एक लाख से भी ज्यादा लोग मारे गए।

इससे मुझे अपार दुख हुआ क्यों?

जब किसी स्वतंत्र देश को जीता जाता है तो लाखों लोग मारे जाते हैं और बहुत सारे बंदी बनाए जाते हैं। इसमें ब्राह्मण और श्रमण भी मारे जाते हैं।

जो लोग अपने सगे-संबंधियों और मित्रों को बहुत प्यार करते हैं तथा दासों और मृतकों के प्रति दयावान होते हैं, वे भी युद्ध में या तो मारे जाते हैं या अपने प्रियजनों को खो देते हैं।

इसीलिए मुझे पश्चाताप हो रहा है। अब मैंने धम्म पालन करने एवं दूसरों को इसकी शिक्षा देने का निश्चय किया है।

मैं मानता हूँ कि धम्म के माध्यम से लोगों का दिल जीतना बलपूर्वक विजय पाने से ज्यादा अच्छा है। मैं यह अभिलेख भविष्य के लिए एक संदेश के रूप में इसलिए उत्कीर्ण कर रहा हूँ कि मेरे बाद मेरे बेटे और पोते भी युद्ध न करें।

इसके बदले उन्हें यह सोचना चाहिए कि धम्म को कैसे बढ़ाया जाए।”

(‘धम्म’ संस्कृत शब्द ‘धर्म’ का प्राकृत रूप है)।

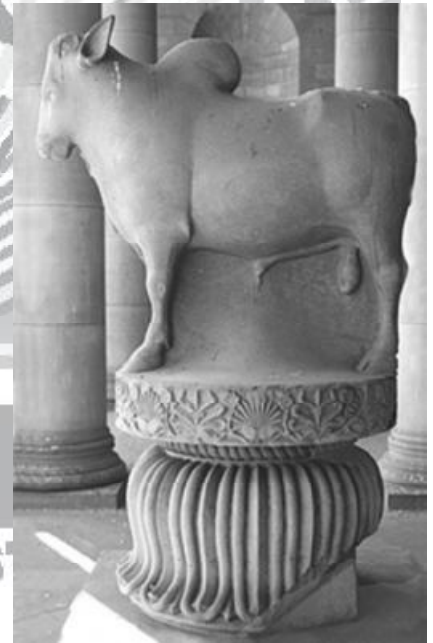
अशोक का कलिंग युद्ध

कलिंग तटवर्ती उड़ीसा का प्राचीन नाम है। अशोक ने कलिंग को जीतने के लिए एक युद्ध लड़ा। लेकिन युद्धजनित हिंसा और खून-खराबा देखकर उन्हें युद्ध से वितृष्णा हो गई। उन्होंने निर्णय लिया कि वे भविष्य में कभी युद्ध नहीं करेंगे।

अशोक का धम्म क्या था?

अशोक के धम्म में किसी देवता की पूजा अथवा किसी कर्मकांड की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें लगता था कि जैसे पिता अपने बच्चों को अच्छे व्यवहार की शिक्षा देते हैं वैसे ही यह उनका कर्तव्य था कि अपनी प्रजा को निर्देश दें। वे बुद्ध के उपदेशों से भी प्रेरित हुए थे।

ऐसी कई समस्याएँ थीं जिनके लिए उनमें संवेदना थी। उनके साम्राज्य में अलग-अलग धर्मों को मानने वाले लोग थे और इससे कई बार टकराव पैदा हो जाता था। जानवरों की बलि चढ़ाई जाती थी। दासों और नौकरों के साथ क्रूर व्यवहार किया जाता था। इनके अलावा परिवार में व पड़ोसियों के बीच भी झगड़े होते रहते थे। अशोक ने यह महसूस किया कि इन समस्याओं का निदान उनका कर्तव्य है। इसीलिए उन्होंने धम्म-महामात्त नाम के अधिकारियों की नियुक्ति की जो जगह-जगह जाकर धम्म की शिक्षा देते थे।



उत्कृष्ट पॉलिश वाले पत्थर की इस मूर्ति को देखो। यह बिहार के रामपुरवा में मिले एक मौर्यकालीन स्तंभ का हिस्सा है। अभी इसे राष्ट्रपति भवन में रखा गया है। यह उस समय की मूर्तिकला का एक नमूना है।

NOTES

इसके अतिरिक्त अशोक ने अपने संदेश कई स्थानों पर शिलाओं और स्तंभों पर खुदवा दिए। अधिकारियों को यह निर्देश दिया गया कि वे राजा के संदेश को उन लोगों को पढ़कर सुनाएँ जो खुद पढ़ नहीं सकते थे। अशोक ने धम्म के विचारों को प्रसारित करने के लिए सीरिया, मिस्र, ग्रीस तथा श्रीलंका में भी दूत भेजे।

उन्होंने सड़के बनवाई, कुएँ खुदवाए और विश्राम-गृह बनवाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने मनुष्यों व जानवरों की चिकित्सा की भी व्यवस्था की।

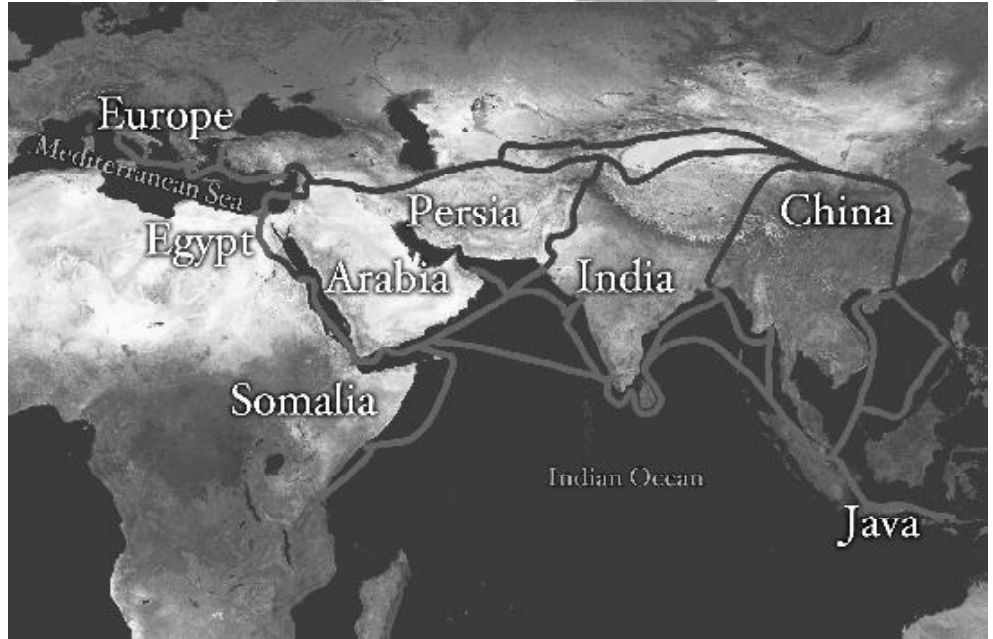


KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-7 : प्राचीनकाल में व्यापार

रेशम मार्ग की कहानी

कीमती, चमकीले रंग और चिकनी, मुलायम बनावट की वजह से रेशमी कपड़े अधिकांश समाज में बहुमूल्य माने जाते हैं। रेशमी कपड़ा तैयार करना एक जटिल प्रक्रिया है। रेशम के कीड़े से कच्चा रेशम निकालकर, सूत कटाई होती है, और फिर उससे कपड़ा बुना जाता है। रेशम बनाने की तकनीक का आविष्कार सबसे पहले चीन में करीब 7000 साल पहले हुआ। इस तकनीक को उन्होंने हजारों साल तक बाकी दुनिया से छुपाए रखा। पर चीन से पैदल, घोड़ों या ऊँटों पर कुछ लोग दूर-दूर की जगहों पर जाते थे और अपने साथ रेशमी कपड़े भी ले जाते थे। जिस रास्ते से ये लोग यात्रा करते थे वह रेशम मार्ग (सिल्क रूट) के नाम से प्रसिद्ध हो गया।



दि टाइम्स एटलस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री (संपा, ज्योफ्रे बाराक्ली) हैमंड इंक, न्यू जर्सी, 1986, पृ. 70-71 पर आधारित

कभी-कभी चीन के शासक ईरान और पश्चिमी एशिया के शासकों को उपहार के तौर पर रेशमी कपड़े भेजते थे। यहाँ से रेशम के बारे में जानकारी और भी पश्चिम की ओर फैल गई। करीब 2000 साल पहले रोम के शासकों और धनी लोगों के बीच रेशमी कपड़े पहनना एक फैशन बन गया। इसकी कीमत बहुत ही ज्यादा होती थी। क्योंकि चीन से इसे लाने में दुर्गम पहाड़ी और रेगिस्तानी रास्तों से होकर जाना पड़ता था। यही नहीं, रास्ते के आस-पास रहने वाले लोग व्यापारियों से यात्राशुल्क भी माँगते थे।

कुछ शासक इसके बड़े-बड़े हिस्सों पर अपना नियंत्रण करना चाहते थे क्योंकि इस रास्ते पर यात्रा कर रहे व्यापारियों से उन्हें कर, शुल्क तथा तोहफों के जरिए लाभ मिलता था। इसके बदले, ये शासक इन व्यापारियों को अपने राज्य से गुजरते वक्त लुटेरों के आक्रमणों से सुरक्षा देते थे।

सिल्क रूट पर नियंत्रण रखने वाले शासकों में सबसे प्रसिद्ध कुषाण थे। करीब 2000 साल पहले मध्य-एशिया तथा पश्चिमोत्तर भारत पर इनका शासन था। पेशावर और मथुरा इनके दो मुख्य शक्तिशाली केंद्र थे। तक्षशिला भी इनके ही राज्य का हिस्सा था। इनके शासनकाल में ही सिल्क रूट की एक शाखा मध्य-एशिया से होकर सिंधु नदी के मुहाने के पत्तनों तक जाती थी। फिर यहाँ से जहाजों द्वारा रेशम, पश्चिम की ओर रोमन साम्राज्य तक पहुँचता था। इस उपमहाद्वीप में सबसे पहले सोने के सिक्के जारी करने वाले शासकों में कुषाण थे। सिल्क रूट पर यात्रा करने वाले व्यापारी इनका उपयोग किया करते थे।

NOTES

बौद्ध धर्म का प्रसार

कुषाणों का सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क था। उसने करीब 1900 साल पहले शासन किया। उसने एक बौद्ध परिषद् का गठन किया, जिसमें एकत्र होकर विद्वान महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श करते थे। बुद्ध की जीवनी बुद्धचरित के रचनाकार कवि अश्वघोष, कनिष्क के दरबार में रहते थे। अश्वघोष तथा अन्य बौद्ध विद्वानों ने अब संस्कृत में लिखना शुरू कर दिया था।

इस समय बौद्ध धर्म की एक नई धारा महायान का विकास हुआ। इसकी दो मुख्य विशेषताएँ थीं। पहले, मूर्तियों में बुद्ध की उपस्थिति सिर्फ कुछ संकेतों के माध्यम से दर्शाई जाती थी। मिसाल के तौर पर उनकी निर्वाण प्राप्ति को पीपल के पेड़ की मूर्ति द्वारा दर्शाया जाता था पर अब बुद्ध की प्रतिमाएँ बनाई जाने लगीं। इनमें से अधिकांश मथुरा में, तो कुछ तक्षशिला में बनाई जाने लगीं।

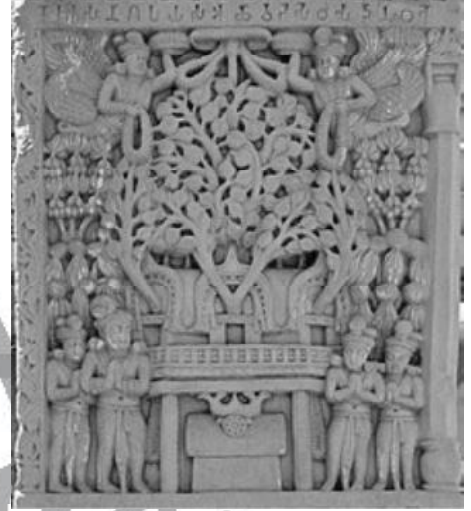
दूसरा परिवर्तन बोधिसत्व में आस्था को लेकर आया। बोधिसत्व उन्हें कहते हैं जो ज्ञान प्राप्ति के बाद एकांत वास करते हुए ध्यान साधना कर सकते थे। लेकिन ऐसा करने के बजाए, वे लोगों को शिक्षा देने और मदद करने के लिए सांसारिक परिवेश में ही रहना ठीक समझने लगे। धीरे-धीरे बोधिसत्व की पूजा काफी लोकप्रिय हो गई और पूरे मध्य एशिया, चीन और बाद में कोरिया तथा जापान तक भी फैल गई।

बौद्ध धर्म का प्रसार पश्चिमी और दक्षिणी भारत में हुआ, जहाँ बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए पहाड़ों में दर्जनों गुफाएँ खोदी गईं।

इनमें से कुछ गुफाएँ राजा और रानियों के आदेश पर बनाई गईं तो कुछ व्यापारियों तथा कृषकों द्वारा। इनमें से ज्यादातर गुफाएँ पश्चिमी घाट के दर्रों के पास बनाई गई थीं। दक्कन के शहरों और तटों के समृद्ध बंदरगाहों और इन्हें जोड़ने वाली सड़के भी इन्हीं दर्रों से होकर गुजरती थीं। ऐसा लगता है कि यात्रा करने वाले व्यापारी इन गुफाओं वाले मठों में विश्राम के लिए रुकते थे।

बौद्ध धर्म दक्षिण-पूर्व की ओर श्रीलंका, म्यांमार, थाइलैंड तथा इंडोनेशिया सहित दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य भागों में भी फैला।

थेरवाद नामक बौद्ध धर्म का आरंभिक रूप इन क्षेत्रों में कहीं अधिक प्रचलित था।



साँची के स्तूप का एक मूर्ति चित्र। यहाँ इस वृक्ष और उसके नीचे के खाली आसन को देखो। मूर्तिकारों ने यह बताने के लिए खुदाई करके यह मूर्ति बनाई कि बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति इसी वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्यान करते हुए हुई।



चित्र-कार्ले की गुफा, महाराष्ट्र



तीर्थयात्रियों की जिज्ञासा

व्यापारी कार्गियों में तथा जहाजों पर दूर-दूर जाया करते थे। बहुत-से तीर्थयात्री भी उनके साथ यात्रा पर निकल पड़ते थे।

नालंदा-शिक्षा का एक विशिष्ट केन्द्र

श्वैन त्सांग तथा अन्य तीर्थयात्रियों ने उस समय के सबसे प्रसिद्ध बौद्ध विद्या केंद्र नालंदा (बिहार) में अध्ययन किया। उसने नालंदा के बारे में इस प्रकार लिखा है :

यहाँ के शिक्षक योग्यता तथा बुद्धि में सबसे आगे हैं। बुद्ध के उपदेशों का वह पूरी ईमानदारी से पालन करते हैं। मठ के नियम काफी सख्त हैं, जिन्हें सबको मानना पड़ता है। पूरे दिन वाद-विवाद चलते ही रहते हैं। जिससे युवा और वृद्ध दोनों ही एक-दूसरे की मदद करते हैं। विभिन्न शहरों से विद्वान लोग अपनी शंकाएँ दूर करने यहाँ आते हैं। नए आगन्तुकों से पहले द्वारपाल ही कठिन प्रश्न पूछते हैं। उन्हें अंदर जाने की अनुमति तभी मिलती है, जब वे द्वारपाल को सही उत्तर दे पाते हैं। दस में से सात-आठ सही उत्तर नहीं दे पाते हैं।

भक्ति की शुरुआत

इन्हीं दिनों देवी-देवताओं की पूजा का चलन भी शुरू हुआ। बाद में हिन्दू धर्म की यह प्रमुख पहचान बन गई। इनमें शिव, विष्णु और माँ दुर्गा जैसे देवी-देवता शामिल हैं।

इन देवी-देवताओं की पूजा, भक्ति परम्परा के माध्यम से की जाती थी। भक्ति उस समय काफी लोकप्रिय परम्परा बन गई। किसी देवी या देवता के प्रति श्रद्धा को ही भक्ति कहा जाता है। भक्ति का पथ सबके लिए खुला था, चाहे वह धनी हो या गरीब, ऊँची जाति का हो या नीची जाति का, स्त्री हो या पुरुष।

भक्ति मार्ग की चर्चा हिन्दुओं के पवित्र ग्रंथ भगवद्गीता में की गई है। भगवद्गीता महाभारत का एक हिस्सा है। इसमें भगवान कृष्ण अपने भक्त और मित्र अर्जुन को सभी धर्मों को छोड़कर उनकी शरण में आने का उपदेश देते हैं। क्योंकि केवल कृष्ण ही अर्जुन को सारी बुराइयों से मुक्ति दिला सकते हैं। पूजा का यह रूप धीरे-धीरे देश के विभिन्न भागों में फैलने लगा।

भक्ति मार्ग अपनाते वाले लोग आडंबर के साथ पूजा-पाठ करने के बजाए ईश्वर के प्रति लगन और व्यक्तिगत पूजा पर जोर देते थे।

तीर्थयात्री

तीर्थयात्री वे स्त्री-पुरुष होते हैं, जो प्रार्थना के लिए पवित्र स्थानों की यात्रा किया करते हैं।



वराह के रूप में विष्णु। एरण, मध्य प्रदेश की यह शानदार मूर्ति विष्णु के 'वराह' रूप की है। पुराणों (अध्याय 12) के अनुसार जल में डूबी पृथ्वी को बचाने के लिए विष्णु ने वराह रूप धारण किया था। यहाँ पृथ्वी को एक स्त्री के रूप में दर्शाया गया है।

NOTES

भक्ति मार्ग अपनाने वालों का यह मानना है कि अगर अपने आराध्य देवी या देवता की सच्चे मन से पूजा की जाए, तो वह उसी रूप में दर्शन देंगे, जिसमें भक्त उसे देखना चाहता है। इसलिए आराध्य देवी या देवता मानव के रूप में भी हो सकते हैं या फिर सिंह, पेड़ या अन्य किसी भी रूप में। जैसे-जैसे इस विचार को समाज द्वारा स्वीकृति मिलती गई, कलाकार, देवी-देवताओं की एक से बढ़कर एक खूबसूरत मूर्तियाँ तैयार करने लगे।

भक्ति

भक्ति भज् शब्द से बना है, जिसका अर्थ 'विभाजित करना या हिस्सेदारी' होता है। इसका अर्थ यह है कि भक्ति, भगवान और भक्त के बीच परस्पर एक अंतरंग संबंध है। भक्ति, भगवत् या भगवान के प्रति झुकाव है। भगवत् का एक अर्थ यह भी है- जो अपने ऐश्वर्य तथा सुख को भक्तों के साथ बाँटता है। यानी भक्त या भागवत् अपने देवी-देवता के भग का हिस्सेदार होता है।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-9 : नए साम्राज्य और राज्य

नए साम्राज्य और राज्य

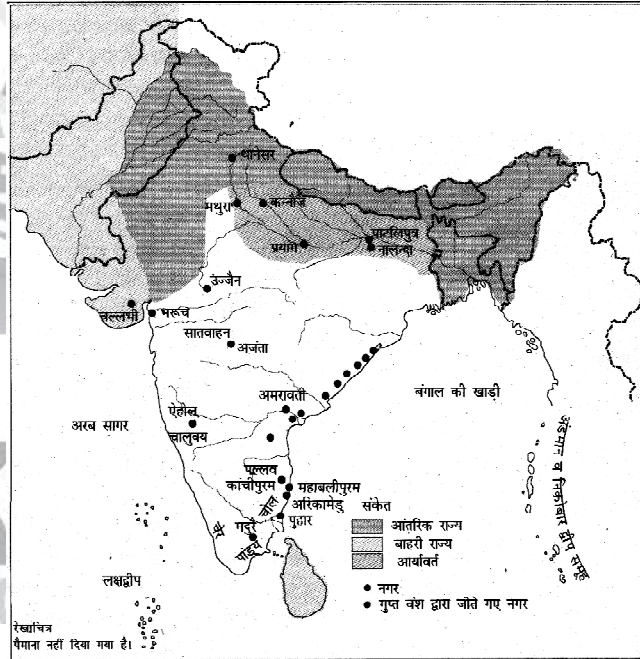
यह मानचित्र कवि हरिषेण की प्रशास्ति में प्राप्त जानकारियों के आधार पर बनाया गया है। हरिषेण चार विभिन्न प्रकार के राजाओं और उनके प्रति समुद्रगुप्त की नीतियों का वर्णन करते हैं।

1. मानचित्र में आर्यावर्त के उन नौ शासकों का वर्णन है, जिन्हें समुद्रगुप्त ने हराकर उनके राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लिया।
2. इसके बाद दक्षिणापथ के बारह शासक आते हैं। इन सब ने हार जाने पर समुद्रगुप्त के सामने समर्पण किया था। समुद्रगुप्त ने उन्हें फिर से शासन करने की अनुमति दे दी।
3. पड़ोसी देशों में असम, तटीय बंगाल, नेपाल और उत्तर-पश्चिम के कई गण या संघ आते थे। ये समुद्रगुप्त के लिए उपहार लाते थे, उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे तथा उनके दरबार में उपस्थित हुआ करते थे।
4. बाह्य इलाके के शासक, संभवतः कुषाण तथा शक वंश के थे। इनमें श्रीलंका के शासक भी थे। इन्होंने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की और अपनी पुत्रियों का विवाह उससे किया।

मानचित्र में प्रयाग (इलाहाबाद का पुराना नाम), उज्जैन तथा पाटलिपुत्र (पटना) ढूँढो। ये गुप्त शासन के महत्वपूर्ण केंद्र थे।

आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ के राज्यों के साथ समुद्रगुप्त के व्यवहार में क्या अंतर था?

क्या इस अंतर के पीछे तुम्हें कोई कारण दिखाई देता है?



मानचित्र : प्रमुख नगर तथा राज्य

हर्षवर्धन तथा हर्षचरित

जिस तरह गुप्त वंश के शासकों के बारे में अभिलेखों तथा सिक्कों से पता चलता है, उसी तरह कुछ अन्य शासकों के बारे में उनकी जीवनी से पता चलता है। ऐसे ही एक राजा हर्षवर्धन थे, जिन्होंने करीब 1400 साल पहले शासन किया। उनके दरबारी कवि बाणभट्ट ने संस्कृत में उनकी जीवनी हर्षचरित लिखी है।

NOTES

इसमें हर्षवर्धन की वंशावली देते हुए उनके राजा बनने तक का वर्णन है। चीनी तीर्थयात्री श्वैन त्सांग, काफी समय के लिए हर्ष के दरबार में रहे। उन्होंने वहाँ जो कुछ देखा, उसका विस्तृत विवरण दिया है।

मगध तथा बंगाल को जीतकर उन्हें पूर्व में जितनी सफलता मिली थी, उतनी सफलता अन्य जगहों पर नहीं मिली। जब उन्होंने नर्मदा नदी को पार कर दक्कन की ओर आगे बढ़ने की कोशिश की तब चालुक्य नरेश, पुलकेशिन द्वितीय ने उन्हें रोका

दिया।

पल्लव, चालुक्य और पुलकेशिन द्वितीय की प्रशास्तियाँ

इस काल में पल्लव और चालुक्य दक्षिण भारत के सबसे महत्वपूर्ण राजवंश थे। पल्लवों का राज्य उनकी राजधानी काँचीपुरम के आस-पास के क्षेत्रों से लेकर कावेरी नदी के डेल्टा तक फैला था, जबकि चालुक्यों का राज्य कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के बीच स्थित था।

चालुक्यों की राजधानी ऐहोल थी। यह एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र था धीरे-धीरे यह एक धार्मिक केंद्र भी बन गया जहाँ कई मंदिर थे। पल्लव और चालुक्य एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करते थे। मुख्य रूप से राजधानियों को निशाना बनाया जाता था जो समृद्ध शहर थे।

पुलकेशिन द्वितीय सबसे प्रसिद्ध चालुक्य राजा थे। उनके बारे में हमें उनके दरबारी कवि रविकीर्ति द्वारा रचित प्रशास्ति से पता चलता है। इसमें उनके पूर्वजों, खासतौर से पिछली चार पीढ़ियों के बारे में बताया गया है। पुलकेशिन द्वितीय को अपने चाचा से यह राज्य मिला था।

रविकीर्ति के अनुसार उन्हें पूर्व तथा पश्चिम दोनों समुद्रतटीय इलाकों में अपने अभियान चलाए। इसके अतिरिक्त उन्होंने हर्ष को भी आगे बढ़ने से रोका। हर्ष का अर्थ 'आनंद' होता है। कवि का कहना है कि इस पराजय के बाद हर्ष अब 'हर्ष' नहीं रहा। पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लव राजा के ऊपर भी आक्रमण किया, जिसे काँचीपुरम की दीवार के पीछे शरण लेनी पड़ी।

पर चालुक्यों की विजय अल्पकालीन थी। लड़ाई से दोनों वंश दुर्बल होते गए। पल्लवों और चालुक्यों को अन्ततः राष्ट्रकूट तथा चोलवंशों ने समाप्त कर दिया।

इन राज्यों का प्रशासन कैसे चलता था?

पहले के राजाओं की तरह इन राजाओं के लिए भूमि कर सबसे महत्वपूर्ण बना रहा।

प्रशासन की प्राथमिक इकाई गाँव होते थे। लेकिन धीरे-धीरे कई नए बदलाव आए। राजाओं ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक या सैन्य शक्ति रखने वाले लोगों का समर्थन जुटाने के लिए कई कदम उठाए। उदाहरण के तौर पर :

- कुछ महत्वपूर्ण प्रशासकीय पद आनुवंशिक बन गए अर्थात् बेटे अपने पिता का पद पाते थे जैसे कि कवि हरिषेण अपने पिता की तरह महादंडनायक अर्थात् मुख्य न्याय अधिकारी थे।
- कभी-कभी, एक ही व्यक्ति कई पदों पर कार्य करता था जैसे कि हरिषेण एक महादंडनायक होने के साथ-साथ कुमारामात्य अर्थात् एक महत्वपूर्ण मंत्री तथा एक संधि-विग्रहिक अर्थात् युद्ध और शांति के विषयों का भी मंत्री था।
- संभवतः वहाँ के स्थानीय प्रशासन में प्रमुख व्यक्तियों का बहुत बोलबाला था। इनमें नगर-श्रेष्ठी यानी मुख्य बैंकर या शहर का व्यापारी, सार्थवाह यानी व्यापारियों के काफिले का नेता, प्रथम-कुलिक अर्थात् मुख्य शिल्पकार तथा कायस्थों यानी लिपिकों के प्रधान जैसे लोग होते थे।

इस तरह की नीतियाँ कुछ हद तक प्रभावशाली होती थीं, पर समय के साथ-साथ इनमें से कुछ व्यक्ति इतने अधिक शक्तिशाली हो जाते थे कि अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लेते थे।

NOTES

एक नए प्रकार की सेना

कुछ राजा अभी भी पुराने राजाओं की तरह एक सुसंगठित सेना रखते थे, जिसमें हाथी, रथ, घोड़सवार और पैदल सिपाही होते थे पर इसके साथ-साथ कुछ सेनानायक भी होते थे, जो आवश्यकता पड़ने पर राजा को सैनिक सहायता दिया करते थे। इन सेनानायकों को कोई नियमित वेतन नहीं दिया जाता था। बदले में इनमें से कुछ को भूमिदान दिया जाता था। दी गई भूमि से ये कर वसूलते थे जिससे वे सेना तथा घोड़ों की देखभाल करते थे। साथ ही वे इससे युद्ध के लिए हथियार जुटाते थे। इस तरह के व्यक्ति सामंत कहलाते थे। जहाँ कहीं भी शासक दुर्बल होते थे, ये सामंत स्वतंत्र होने की कोशिश करते थे।

दक्षिण के राज्यों में सभाएँ

पल्लवों के अभिलेखों में कई स्थानीय सभाओं की चर्चा है। इनमें से एक था ब्राह्मण भूस्वामियों का संगठन जिसे सभा कहते थे। ये सभाएँ उप-समितियों के जरिए सिंचाई, खेतीबाड़ी से जुड़े विभिन्न काम, सड़क, निर्माण, स्थानीय मंदिरों की देखरेख आदि का काम करती थीं। जिन इलाकों के भूस्वामी ब्राह्मण नहीं थे वहाँ उर नामक ग्राम सभा के होने की बात कही गई है। नगरम व्यापारियों

के एक संगठन का नाम था। संभवतः इन सभाओं पर धनी तथा शक्तिशाली भूस्वामियों और व्यापारियों का नियंत्रण था। इनमें से बहुत-सी स्थानीय सभाएँ शताब्दियों तक काम करती रहीं।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

- गुप्त वंश की शुरुआत (1700 साल पहले)
- हर्षवर्धन का शासन (1400 साल पहले)



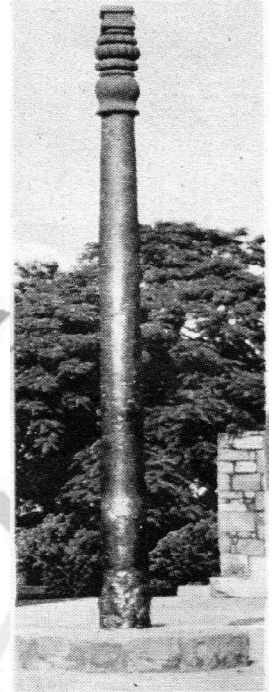
इकाई-10 : प्राचीनकालीन वास्तुकला, शिल्प, कलाएँ साहित्य व विज्ञान

धातु विज्ञान

प्राचीन भारतीय धातुवैज्ञानिकों ने विश्व धातुविज्ञान के क्षेत्र में प्रमुख योगदान दिया है। पुरातात्विक खुदाई ने यह दर्शाया है कि हड़प्पावासी कुशल शिल्पी थे और उन्हें तांबे के धातुकर्म (धातुशोधन) की जानकारी थी। उन्होंने तांबे और टिन को मिलाकर कांसा भी बनाया था। जहाँ हड़प्पावासी कांस्य युग से जुड़े थे वहीं उनके उत्तराधिकारी लौह युग से संबद्ध थे। भारत अत्यंत विकसित किस्म के लोहे का निर्माण करता था - खोटा लोहा, पिटवा लोहा, ढलवा लोहा।

लौह स्तंभ

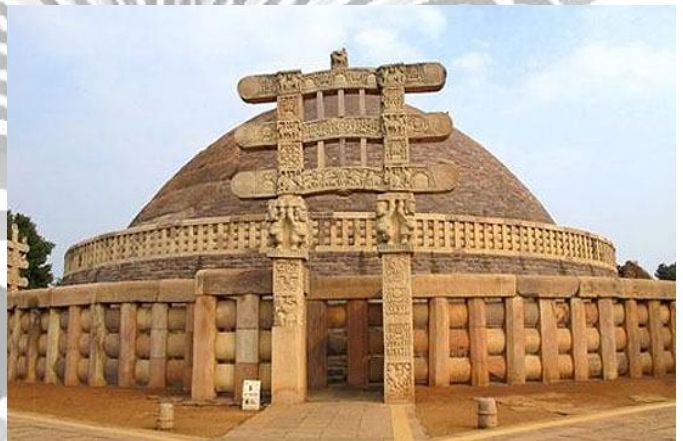
महरौली (दिल्ली) में कुतुबमीनार के परिसर में खड़ा लौह स्तंभ भारतीय शिल्पकारों की कुशलता का एक अदभुत उदाहरण है। इसकी ऊँचाई 7.2 मीटर और वज़न 3 टन से भी ज्यादा है। इसका निर्माण लगभग 1500 साल पहले हुआ। इसके बनने के समय की जानकारी हमें इस पर खुदे अभिलेख से मिलती है। इसमें 'चन्द्र' नाम के एक शासक का जिक्र है जो संभवतः गुप्त वंश के थे। आश्चर्य की बात यह है कि इतने वर्षों के बाद भी इसमें जंग नहीं लगा है।



लौह-स्तम्भ

ईंटों और पत्थरों की इमारतें

हमारे शिल्पकारों की कुशलता के नमूने स्तूपों जैसी कुछ इमारतों में देखने को मिलते हैं। स्तूप का शाब्दिक अर्थ टीला होता है हालांकि स्तूप विभिन्न आकार के थे- कभी गोल या लंबे तो कभी बड़े या छोटे। उन सब में एक समानता है। प्रायः सभी स्तूपों के भीतर एक छोटा-सा डिब्बा रखा रहता है। इन डिब्बों में बुद्ध या उनके अनुयायियों के शरीर के अवशेष (जैसे दाँत, हड्डी या राख) या उनके द्वारा प्रयुक्त कोई चीज़ या कोई कीमती पत्थर अथवा सिक्के रखे रहते हैं।



ऊपर : साँची का महान स्तूप (मध्यप्रदेश)।, इस तरह के स्तूपों का निर्माण कई सौ सालों तक चलता रहा। इस स्तूप में ईंटों का प्रयोग संभवतः अशोक (अध्याय 8) के जमाने का है, जबकि रेलिंग और प्रवेशद्वार बाद के शासकों के काल में जोड़े गए। बाएँ : अमरावती की एक शिल्पकृति। इस चित्र को देखकर इसका वर्णन करें।

इसे धातु-मंजूषा कहते हैं। प्रारंभिक स्तूप, धातु-मंजूषा के ऊपर रखा मिट्टी का टीला होता था। बाद में टीले को ईंटों से ढक दिया गया और बाद के काल में उस गुम्बदनुमा ढाँचे को तराशे हुए पत्थरों से ढक दिया गया।

NOTES

प्रायः स्तूपों के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए एक वृत्ताकार पथ बना होता था, जिसे प्रदक्षिणा पथ कहते हैं। इस रास्ते को रेलिंग से घेर दिया जाता था जिसे वेदिका कहते हैं। वेदिका में प्रवेशद्वार बने होते थे। रेलिंग तथा तोरण प्रायः मूर्तिकला की सुंदर कलाकृतियों से सजे होते थे।

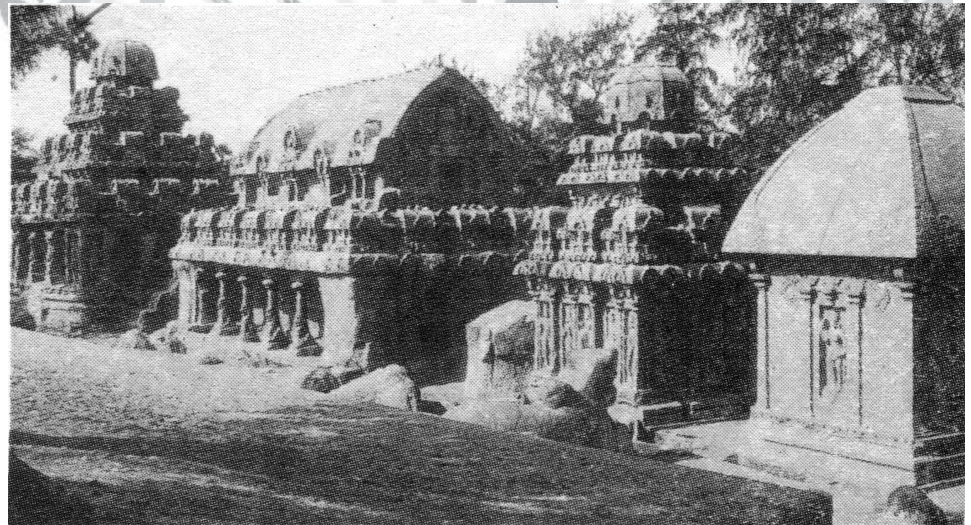
अमरवती में कभी एक भव्य स्तूप हुआ करता था। लगभग 2000 साल पहले इस स्तूप को सजाने के लिए शिलाओं पर चित्र उकरे गए।



कई बार पहाड़ियों को काट कर बनावटी गुफाएँ बनाई जाती थीं। इस तरह की कई गुफाओं को मूर्तियों तथा चित्रों द्वारा सजाया जाता था।

इस काल में कुछ आरंभिक हिन्दू मंदिरों का भी निर्माण किया गया। इन मंदिरों में विष्णु, शिव तथा दुर्गा जैसे देवी-देवताओं की पूजा होती थी। मंदिरों का सबसे महत्वपूर्ण भाग गर्भगृह होता था, जहाँ मुख्य देवी या देवता की मूर्ति को रखा जाता था। इसी स्थान पर पुरोहित धार्मिक अनुष्ठान करते थे और भक्त पूजा करते थे। अक्सर गर्भगृह को एक पवित्र स्थान के रूप में देखाने के लिए, भितरगाँव जैसे मंदिरों में उसके ऊपर काफी ऊँचाई तक निर्माण किया जाता था, जिसे शिखर कहते थे। शिखर निर्माण के कठिन कार्य के लिए सावधानी से योजना बनानी पड़ती थी। अधिकतर मंदिरों में मण्डप नाम की एक जगह होती थी। यह एक सभागार होता था, जहाँ लोग इकट्ठा होते थे।

महाबलिपुरम और एहोल में पत्थरों से बने कुछ उत्कृष्ट मंदिर हैं।



दाएँ ऊपर : महाबलिपुरम के एकाधिक मंदिर। इनमें से प्रत्येक मंदिर एक ही विशाल पहाड़ी को तराश कर बनाया गया है। इसीलिए इन्हें एकाश्म (monolith) कहा गया है। ईंटों से बनाए जाने वाले मंदिरों से यह बिल्कुल भिन्न होते थे। ईंट से बनी इमारतों में नीचे से ईंटों की एक-एक तह जोड़ते हुए उसे ऊपर की ओर ले जाते हैं, जबकि चट्टान तराश कर बनाए जाने वाले मंदिरों को पत्थर काटने वाले ऊपर से नीचे के क्रम में बनाते हैं।

इन मंदिरों को बनाते समय पत्थर काटने वालों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ता होगा, इसकी सूची बनाओ।

NOTES



बाएँ : उड़ीसा का जैन मठ। एक पहाड़ी को खोद कर इस दो मंजिली इमारत को बनाया गया है। कमरों के प्रवेश द्वारों को ध्यान से देखो। इनमें जैन भिक्षु रहते और ध्यान करते थे।

चित्रकला

अजन्ता वह जगह है, जहाँ के पहाड़ों में सैकड़ों सालों के दौरान कई गुफाएँ खोदी गईं। इनमें से ज्यादातर बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनाए गए विहार थे। इनमें से कुछ को चित्रों द्वारा सजाया गया था। यहाँ इनके कुछ उदाहरण दिए गए हैं। गुफाओं के अंदर अंधेरा होने की वजह से, अधिकांश चित्र मशालों की रोशनी में बनाए गए थे। इन चित्रों के रंग 1500 साल बाद भी चमकदार हैं। ये रंग पौधों तथा खनिजों से बनाए गए थे। इन महान कृतियों को बनाने वाला कलाकार अज्ञात हैं।



अजन्ता के चित्र

प्राचीनकालीन साहित्य

विज्ञान की पुस्तकें

इसी समय गणितज्ञ तथा खगोलशास्त्री आर्यभट्ट ने संस्कृत में आर्यभट्टीयम नामक पुस्तक लिखी। इसमें उन्होंने लिखा कि दिन और रात पृथ्वी के अपनी धुरी पर चक्कर काटने की वजह से होते हैं, जबकि लगता है कि रोज सूर्य निकलता है और डूबता है। उन्होंने ग्रहण के बारे में भी एक वैज्ञानिक तर्क दिया। उन्होंने वृत्त की परिधि को मापने की भी विधि ढूँढ़ निकाली, जो लगभग उतनी ही सही है, जितनी कि आज प्रयुक्त होने वाली विधि। वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य कुछ अन्य गणितज्ञ और खगोलवेत्ता थे जिन्होंने कई खोजें कीं।

शून्य

अंकों का प्रयोग पहले से होता रहा था, पर अब भारत के गणितज्ञों ने शून्य के लिए नए चिह्न का आविष्कार किया। गिनती की यह पद्धति अरबों द्वारा अपनाई गई और तब यूरोप में भी फैल गई। आज भी यह पूरी दुनिया में प्रयोग की जाती है।

रोम के निवासी शून्य का प्रयोग किए बगैर गिनती करते थे।

NOTES

आयुर्वेद

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान की एक विख्यात पद्धति है जो प्राचीन भारत में विकसित हुई। प्राचीन भारत में आयुर्वेद के दो प्रसिद्ध चिकित्सक थे। - चरक (प्रथम - द्वितीय शताब्दी ईस्वी) और सुश्रुत (चौथी शताब्दी ईस्वी)। चरक द्वारा रचित चरकसंहिता औषधिशास्त्र की एक उल्लेखनीय पुस्तक है। अपनी रचना सुश्रुतसंहिता में सुश्रुत ने शल्य चिकित्सा की विधियों का विस्तृत वर्णन किया है।

कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ

- स्तूप निर्माण की शुरुआत (2300 साल पहले)
- अमरावती (2000 साल पहले)
- कालिदास (1600 साल पहले)
- लौह स्तंभ, भितरगाँव का मंदिर, अजंता की चित्रकारी, आर्यभट्ट (1500 साल पहले)
- दुर्गा मंदिर (1400 साल पहले)

तिथियों पर एक नजर

- पुरापाषाण युग के लिए तिथियाँ लाखों वर्ष पहले के रूप में लिखी गई हैं।
- मेहरगढ़ में कृषि तथा पशुपालन की शुरुआत की तिथि लगभग 6000 ई.पू. दी गई है।
- हड़प्पा के नगरों का विकास लगभग 2700 से 1900 ई.पू. के बीच
- ऋग्वेद की रचना का काल लगभग 1500 से 1000 ई.पू. के बीच
- महाजनपदों तथा गंगा के मैदानी इलाकों में नगरों का विकास तथा उपनिषद्, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म से जुड़े विचारों का उदय, लगभग 500 ई.पू.
- पश्चिमोत्तर में सिकन्दर का आक्रमण, लगभग 327-325 ई.पू.
- चन्द्रगुप्त मौर्य का राजा बनना लगभग 321 ई.पू.
- अशोक का शासन काल लगभग 272/268 ई.पू. से 231 ई.पू. के बीच
- संगम साहित्य की रचना लगभग 300 ई.पू. - 300 ई.
- कनिष्क का शासन लगभग 78-100 ई.
- गुप्त साम्राज्य की स्थापना लगभग 320 ई.
- वल्लभी की परिषद् में जैन साहित्य का संकलन, लगभग 512/521 ई.
- हर्षवर्धन का शासन 606-647 ई.
- चीनी यात्री श्वेन त्सांग का भारत आगमन 630-643 ई.
- पुलकेशिन II का शासन, 609-642 ई.

इतिहासकार और उनके स्रोत

इतिहासकार किस युग का अध्ययन करते हैं और उनकी खोज की प्रकृति क्या है, इसे देखते हुए वे अलग-अलग तरह के स्रोतों का सहारा लेते हैं। उदाहरण के लिए पिछले साल आपने गुप्तवंश के शासकों और हर्षवर्धन के बारे में पढ़ा। मध्यकालीन इतिहास में हम मोटे तौर पर 700 से 1750 ईसवी तक लगभग हजार वर्षों के बारे में पढ़ेंगे।

मध्यकालीन इतिहास अध्ययन के लिए इतिहासकार जिन स्रोतों का प्रयोग करते हैं, उनमें आपको बहुत-सी बातें ऐसी मिलेंगी जो पिछले युग से वैसी ही चली आ रही हैं। इतिहासकार इस काल के बारे में सूचना इकट्ठी करने के लिए अभी भी सिक्कों, शिलालेखों, स्थापत्य (भवन निर्माण कला) तथा लिखित सामग्री पर निर्भर करते हैं। पर कुछ बातें पहले से काफी भिन्न भी हैं। इस युग में प्रामाणिक लिखित सामग्री की संख्या और विविधता आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई। इसके आगे इतिहासकार सूचनाओं के दूसरे प्रकार के स्रोतों का इस्तेमाल धीरे-धीरे कम करने लगे। इस समय के दौरान कागज क्रमशः सस्ता होता गया और बड़े पैमाने पर उपलब्ध भी होने लगा। लोग धर्मग्रंथ, शासकों के वृत्तांत, संतों के लेखन तथा उपदेश, अर्जियाँ, अदालतों के दस्तावेज, हिसाब तथा करों के खाते आदि लिखने में इसका उपयोग करने लगे। धनी व्यक्ति, शासक जन, मठ तथा मंदिर, पांडुलिपियाँ एकत्रित किया करते थे। इन पांडुलिपियों को पुस्तकालयों तथा अभिलेखागारों में रखा जाता है। इन पांडुलिपियों तथा दस्तावेजों से इतिहासकारों को बहुत सारी विस्तृत जानकारी मिलती है मगर साथ ही इनका उपयोग कठिन है।

अभिलेखागार

ऐसा स्थान जहाँ दस्तावेजों और पांडुलिपियों को संग्रहित किया जाता है। आज सभी राष्ट्रीय और राज्य सरकारों के अभिलेखागार होते हैं जहाँ वे अपने तमाम पुराने सरकारी अभिलेख और लेन-देन के ब्यौरों का रिकॉर्ड रखते हैं।

नए सामाजिक और राजनीतिक समूह

सन् 700 और 1750 के बीच के हजार वर्षों का अध्ययन इतिहासकारों के आगे भारी चुनौती रखता है, मुख्य रूप से इसलिए कि इस पूरे काल में बड़े पैमाने पर और अनेक तरह के परिवर्तन हुए। इस काल में अलग-अलग समय पर नई प्रौद्योगिकी के दर्शन होते हैं, जैसे, सिंचाई में रहट, कताई में चर्खे और युद्ध में आग्नेयास्त्रों (बारूद वाले हथियार) का इस्तेमाल। इस उपमहाद्वीप में नए तरह का खान-पान भी आया-आलू, मक्का, मिर्च, चाय और कॉफी। ध्यान रहे कि ये तमाम परिवर्तन-नई प्रौद्योगिकियाँ और फसलें-उन लोगों के साथ आए जो नए विचार भी लेकर आए थे। परिणामस्वरूप यह काल आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का भी काल रहा।

इस युग में लोगों की गतिशीलता-एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना-जाना भी बहुत बढ़ गया था। अवसर की तलाश में लोगों के झुंड के झुंड दूर-दूर की यात्राएँ करने लगे थे। इस उपमहाद्वीप में अपार संपदा और अपना भाग्य गढ़ने के लिए अपार संभावनाएँ मौजूद थीं। इस काल में जिन समुदायों का महत्त्व बढ़ा उनमें से एक समुदाय था राजपूत, जिसका नाम 'राजपुत्र' (अर्थात् राजा का पुत्र) से निकला है। आठवीं से चौदहवीं सदी के बीच यह नाम आमतौर पर योद्धाओं के उस समूह के लिए प्रयुक्त होता था जो क्षत्रिय वर्ण के होने का दावा करते थे। 'राजपूत' शब्द के अंतर्गत केवल राजा और सामंत वर्ग ही नहीं, बल्कि वे सेनापति और सैनिक भी आते थे जो पूरे उपमहाद्वीप में अलग-अलग शासकों की सेनाओं में सेवारत थे। कवि और चारण राजपूतों की आचार संहिता-प्रबल पराक्रम और स्वामिभक्ति का गुणगान करते थे। इस युग में राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व हासिल करने के अवसरों का लाभ मराठा, सिक्ख, जाट, अहोम और कायस्थ (मुख्यतः लिपिकों और मुंशियों का कार्य करने वाली जाति) आदि समूहों ने भी उठाया।

NOTES

इस पूरे काल के दौरान क्रमशः जंगलों की कटाई हो रही थी और खेती का इलाका बढ़ता जा रहा था। कुछ क्षेत्रों में यह परिवर्तन अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक तेजी से और पूरे तौर पर हुआ। पर्यावास में परिवर्तन के कारण कई वनवासियों को मजबूर होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ा। कुछ और वनवासी जमीन की जुताई करने लगे और कृषक बन गए।

कृषकों के ये नए समूह क्षेत्रीय बाजार, मुखियाओं, पुजारियों, मठों और मंदिरों से प्रभावित होने लगे। वे बड़े और जटिल समाजों के अंग बन गए। उन्हें कर चुकाने पड़ते थे और स्थानीय मालिक वर्ग की बेगार करनी पड़ती थी। परिणामस्वरूप किसानों के बीच आर्थिक और सामाजिक अंतर उभरने लगे। कुछ के पास ज्यादा उपजाऊ जमीन होती थी, कुछ लोग मवेशी भी पालते थे और कुछ लोग खेती से खाली समय में दस्तकारी आदि का कुछ काम कर लेते थे। जैसे-जैसे समाज में अंतर बढ़ने लगे, लोग जातियों और उपजातियों में बाँटे जाने लगे और उनकी पृष्ठभूमि और व्यवसाय के आधार पर उन्हें समाज में ऊँचा या नीचा दर्जा दिया जाने लगा। ये दर्जे स्थायी नहीं थे। किसी जाति विशेष के सदस्यों के हाथों में कितनी सत्ता, प्रभाव और संसाधनों का नियंत्रण है, इसके आधार पर उसके दर्जे बदलते रहते थे। एक ही जाति का किसी क्षेत्र में कोई दर्जा हो सकता था, और किसी अन्य क्षेत्र में कोई और।

अपने सदस्यों के व्यवहार का नियंत्रण करने के लिए जातियाँ स्वयं अपने-अपने नियम बनाती थीं। इन नियमों का पालन जाति के बड़े-बुजुर्गों की एक सभा करवाती थी जिसे कुछ इलाकों में 'जाति पंचायत' कहा जाता था। लेकिन जातियों को अपने निवास के गाँवों के रिवाजों का पालन भी करना पड़ता था। इसके अलावा कई गाँवों पर मुखियाओं का शासन होता था। मिल-मिलाकर वे किसी राज्य की एक छोटी इकाई भर होती थीं।

नए धर्म

यही वह युग था जिसमें इस उपमहाद्वीप में नए-नए धर्मों का भी आगमन हुआ। कुरान शरीफ का संदेश भारत में पहले-पहल सातवीं सदी में व्यापारियों और अप्रवासियों के जरिए पहुँचा। मुसलमान, कुरान शरीफ को अपना धर्मग्रंथ मानते हैं, केवल एक ईश्वर-अल्लाह की सत्ता को स्वीकार करते हैं जिसका प्रेम, करुणा और उदारता के सिद्धांत अपने में आस्था रखने वाले हर व्यक्ति को गले लगाना है चाहे उस व्यक्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि कुछ भी रही हो।

कई शासक, इस्लाम और इसके विद्वान धर्मशास्त्रियों और न्याय-शास्त्रियों अर्थात् उलेमा को संरक्षण देते थे। हिंदू धर्म की ही भाँति इस्लाम के अनुयायी भी अपने धर्म की अलग-अलग तरह से व्याख्या करते थे। मुसलमानों में कुछ शिया थे जो पैगंबर साहब के दामाद अली को मुसलमानों का विधिसम्मत नेता मानते थे, और कुछ सुन्नी थे जो खलीफाओं के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस्लाम के आरंभिक दौर में इस धर्म का नेतृत्व करने वाले खलीफा कहलाते थे और आगे भी इनकी परंपरा चलती रही। इस्लामी न्याय सिद्धांत (विशेषकर भारत में हनफी और शफी ऐसे सिद्धांत हैं) की विभिन्न परंपराओं में भी कई महत्वपूर्ण अंतर रहे हैं। ऐसे ही धर्म-सिद्धांतों तथा रहस्यवादी विचारों को लेकर विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं।

GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-12 : नए मध्यकालीन राजवंश और उनके राज्य

नए मध्यकालीन राजवंश और उनके राज्य

सातवीं शताब्दी के बाद कई राजवंशों का उदय हुआ। मानचित्र में उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच शासन करने वाले प्रमुख राजवंशों को दिखलाया गया है।

नए राजवंशों का उदय

सातवीं सदी आते-आते उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में बड़े भूस्वामी और योद्धा-सरदार अस्तित्व में आ चुके थे। राजा लोग प्रायः उन्हें अपने मातहत या सामंत के रूप में मान्यता देते थे। उनसे उम्मीद की जाती थी कि वे राजा या स्वामी के लिए उपहार लाएँ, उनके दरबार में हाजिरी लगाएँ और उन्हें सैन्य सहायता प्रदान करें। अधिक सत्ता और संपदा हासिल करने पर सामंत अपने-आप को महासामंत, महामंडलेश्वर (पूरे मंडल का महान स्वामी) इत्यादि घोषित कर देते थे। कभी-कभी वे अपना स्वामी के आधिपत्य से स्वतंत्र हो जाने का दावा भी करते थे।

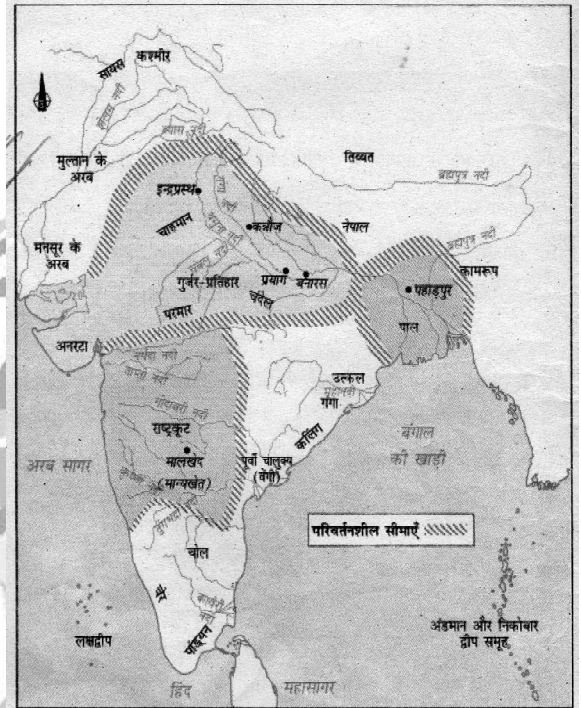
इस तरह का एक उदाहरण दक्कन में राष्ट्रकूटों का था। शुरुआत में वे कर्नाटक के चालुक्य राजाओं के अधीनस्थ थे। आठवीं सदी के मध्य में एक राष्ट्रकूट प्रधान दंतीदुर्ग ने अपने चालुक्य स्वामी की अधीनता से इंकार कर दिया, उसे हराया और हिरण्यगर्भ (शाब्दिक अर्थ - सोने का गर्भ) नामक एक अनुष्ठान किया। जब यह अनुष्ठान ब्राह्मणों की सहायता से संपन्न किया जाता था, तो यह माना जाता था कि इससे याजक, जन्मना क्षत्रिय न होते हुए भी क्षत्रिय के रूप में दुबारा क्षत्रियत्व प्राप्त कर लेगा।

कुछ अन्य उदाहरणों में उद्यमी परिवारों के पुरुषों ने अपनी राजशाही कायम करने के लिए सैन्य-कौशल का इस्तेमाल किया। मिसाल के तौर पर, कदंब मयूरशर्मण और गुर्जर-प्रतिहार हरिचंद्र ब्राह्मण थे, जिन्होंने अपने परंपरागत पेशे को छोड़कर शस्त्र को अपना लिया और क्रमशः कर्नाटक और राजस्थान में अपने राज्य सफलतापूर्वक स्थापित किए।

राज्यों में प्रशासन

इन नए राजाओं में से कइयों ने महाराजाधिराज (राजाओं के राजा), त्रिभुवन-चक्रवर्तिन (तीन भुवनों का स्वामी) और इसी तरह की अन्य भारी-भरकम उपाधियाँ धारण की। लेकिन, इस तरह के दावों के बावजूद, वे अपने सामंतों और साथ-ही-साथ किसान, व्यापारी तथा ब्राह्मणों के संगठनों के साथ अपनी सत्ता की साझेदारी करते थे।

इन सभी राज्यों में उत्पादकों अर्थात् किसानों, पशुपालकों, कारीगरों से संसाधन इकट्ठे किए जाते थे। इनको अकसर अपने उत्पादों का एक हिस्सा त्यागने के लिए मनाया या बाध्य किया जाता था। कभी-



मानचित्र में गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पाल, चोल और चाहमानों (चौहानों) के स्थान का निर्धारण कीजिए। क्या आप आज के उन राज्यों की पहचान कर सकते हैं, जिन पर उनका नियंत्रण था?

NOTES

कभी इस हिस्से को 'लगान' मानकर वसूला जाता था क्योंकि प्राप्त करने वाला भूस्वामी होने का दावा करता था। राजस्व व्यापारियों से भी लिया जाता था।

ये संसाधन राजा की व्यवस्था का वित्तीय आधार बनते थे, साथ ही मंदिरों और दुर्गों के निर्माण में भी इस्तेमाल होते थे। संसाधन उन युद्धों को लड़ने में भी इस्तेमाल होते थे, जिनसे लूट की शक्ति में धन मिलने की तथा ज़मीन और व्यापारिक मार्गों के प्रयोग की संभावनाएँ बनती थीं।

राजस्व-वसूली के लिए पदाधिकारियों की नियुक्ति सामान्यतः प्रभावशाली परिवारों के बीच से ही की जाती थी और प्रायः वंशानुगत होती थीं। सेना में भी ऐसा ही होता था। कई बार राजा के निकट संबंधी ही इन ओहदों पर होते थे।

भूमि-अनुदान

राजा लोग प्रायः ब्राह्मणों को भूमि अनुदान से पुरस्कृत करते थे। ये ताम्र पत्रों पर अभिलिखित होते थे, जो भूमि पाने वाले को दिए जाते थे।



धन के लिए युद्ध

आपने यह गौर किया होगा कि इनमें से प्रत्येक शासक राजवंश का आधार कोई क्षेत्र-विशेष था। वे दूसरे क्षेत्रों पर भी नियंत्रण करने का प्रयास करते थे। एक विशेष रूप से वांछनीय क्षेत्र था- गंगा घाटी में कन्नौज नगर। गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूट और पाल वंशों के शासक

सदियों तक कन्नौज के ऊपर नियंत्रण को लेकर आपस में लड़ते रहे। चूँकि इस लंबी चली लड़ाई में तीन पक्ष थे, इसलिए इतिहासकारों ने प्रायः इसकी चर्चा 'त्रिपक्षीय संघर्ष' के रूप में की है।

अफगानिस्तान के गज़नी का सुलतान महमूद, ऐसे शासकों में से सबसे प्रसिद्ध है। उसने 997 से 1030 तक शासन किया और अपने नियंत्रण का विस्तार मध्य एशिया के भागों, ईरान और उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी हिस्से तक किया। वह लगभग हर साल उपमहाद्वीप पर हमला करता था। उसका निशाने पर थे। संपन्न मंदिर, जिनमें गुजरात का सोमनाथ मंदिर भी शामिल था। महमूद जो धन उठा ले गया, उसका बहुत बड़ा हिस्सा गज़नी में एक वैभवशाली राजधानी के निर्माण में खर्च हुआ।

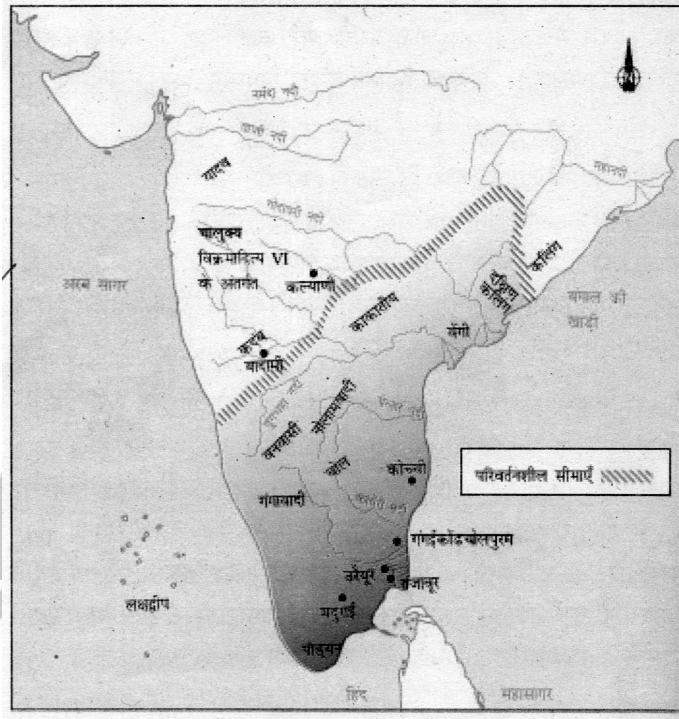
सुलतान महमूद अपने द्वारा जीते गए लोगों के बारे में भी कई बातें जानना चाहता था और उसने अल-बेरूनी नामक एक विद्वान को इस उपमहाद्वीप का लेखा-जोखा लिखने का काम सौंपा। अरबी में लिखी गई उसकी कृति, किताब अल-हिन्द, आज भी इतिहासकारों के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है। अल-बेरूनी ने इसे तैयार करने के लिए संस्कृत के विद्वानों से परामर्श किया।

युद्ध करने वाले दूसरे राजाओं में चाहमान भी थे, जो बाद में चौहान के रूप में जाने गए। वे दिल्ली और अजमेर के आस-पास के क्षेत्र पर शासन करते थे। उन्होंने पश्चिम और पूर्व की ओर अपने नियंत्रण-क्षेत्र का विस्तार करना चाहा, जहाँ उन्हें गुजरात के चालुक्यों और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गहड़वालों से टक्कर लेनी पड़ी। चाहमानों का सबसे प्रसिद्ध शासक था- पृथ्वीराज तृतीय (1168-1192), जिसने सुल्तान मुहम्मद गोरी नामक अफगान शासक को 1191 में हराया, लेकिन दूसरे ही साल 1192 में उसके हाथों हार गया।

यह थोड़ा संस्कृत और थोड़ा तमिल में लिखा हुआ ताम्रपत्रों का एक संग्रह है, जिसमें नौवीं सदी में एक शासक के द्वारा किए गए भूमि अनुदान का उल्लेख है। जिन कड़ियों से ये पत्र जुड़े हैं, उन पर राजसी मुहर लगी है, जो यह बतलाने के लिए है कि यह एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

NOTES

चोल राज्य-नज़दीक से एक नज़र



चित्र-चोल राज्य और उसके पड़ोसी

चोल राज्य

चोल वंश सत्ता में कैसे आया? कावेरी डेल्टा में मुट्टरियार नाम से प्रसिद्ध एक छोटे-से मुखिया परिवार के विजयालय ने नौवीं सदी के मध्य में मुट्टरियारों को हरा कर इस डेल्टा पर कब्जा जमाया। उसने वहाँ तंजावूर शहर और निशुम्भसूदिनी देवी का मंदिर बनवाया।

विजयालय के उत्तराधिकारियों ने पड़ोसी इलाकों को जीता और उसका राज्य अपने क्षेत्रफल तथा शक्ति, दोनों रूपों में बढ़ता गया। दक्षिण और उत्तर के पांड्यन और पल्लव के इलाके इस राज्य का हिस्सा बना लिए गए। राजराज प्रथम, जो सबसे शक्तिशाली चोल शासक माना जाता है, 985 में राजा बना और उसी ने इनमें से ज्यादातर क्षेत्रों पर अपने नियंत्रण का विस्तार किया। उसने साम्राज्य के प्रशासन का भी पुनर्गठन किया। राजराज के पुत्र राजेंद्र प्रथम ने उसकी नीतियों को जारी रखा और उसने गंगा घाटी, श्री लंका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों पर हमला भी किया। इन अभियानों के लिए उसने एक जलसेना भी बनाई।



चित्र 3 : गंगईकॉड चोलपुरम का मंदिर छत जिस तरह से क्रमशः पतली होती गई है, उस पर गौर करें। बाहरी दीवारों को सजाने के लिए पत्थर की जो प्रतिमाएँ अलंकृत की गई हैं, उन्हें भी देखिए।

NOTES

भव्य मंदिर और कांस्य मूर्तिकला

राजराज और राजेंद्र प्रथम द्वारा बनवाए गए तंजावूर और गंगईकोंडचोलपुरम के बड़े मंदिर स्थापत्य और मूर्तिकला की दृष्टि से एक चमत्कार हैं।

चोल मंदिर अकसर अपने आस-पास विकसित होने वाली बस्तियों के केंद्र बन गए। ये शिल्प-उत्पादन के केंद्र थे। ये मंदिर शासकों और अन्य लोगों द्वारा दी गई भूमि से भी संपन्न हो गए थे। इस भूमि की उपज उन सारे विशेषज्ञों का निर्वाह करने में खर्च होती थी, जो मंदिर के आस-पास रहते और उसके लिए काम करते थे-पुरोहित, मालाकार, बावर्ची, मेहतर, संगीतकार, नर्तक, इत्यादि। दूसरे शब्दों में, मंदिर सिर्फ पूजा-आराधना के स्थान नहीं थे- वे आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के केंद्र भी थे। मंदिर के साथ जुड़े हुए शिल्पों में सबसे विशिष्ट था- कांस्य प्रतिमाएँ बनाने का काम। चोल कांस्य प्रतिमाएँ संसार की सबसे उत्कृष्ट कांस्य प्रतिमाओं में गिनी जाती हैं। ज्यादातर प्रतिमाएँ तो देवी-देवताओं की ही होती थीं, लेकिन कुछ प्रतिमाएँ भक्तों की भी बनाई गई थीं।



साम्राज्य का प्रशासन

प्रशासन किस प्रकार संगठित था? किसानों की बस्तियाँ, जो 'उर' कहलाती थीं, सिंचित खेती के साथ बहुत समृद्ध हो गई थीं। इस तरह के गाँवों के समूह को 'नाडु' कहा जाता था। ग्राम परिषद् और नाडु, न्याय करने और कर वसूलने जैसे कई प्रशासकीय कार्य करते थे।

वेल्लाल जाति के धनी किसानों को केंद्रीय चोल सरकार की देख-रेख में 'नाडु' के काम-काज में अच्छा-खासा नियंत्रण हासिल था। उनमें से कई धनी भूस्वामियों को चोल राजाओं ने सम्मान के रूप में 'मुवेदवेलन' (तीन राजाओं को अपनी सेवाएँ प्रदान करने वाला वेलन या किसान), 'अरइयार' (प्रधान) जैसी उपाधियाँ दीं और उन्हें केंद्र में महत्वपूर्ण राजकीय पद सौंपे।

हमने देखा है कि ब्राह्मणों को समय-समय पर भूमि-अनुदान या ब्रह्मदेय प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप कावेरी घाटी और दक्षिण भारत के दूसरे हिस्सों में ढेरों ब्राह्मण बस्तियाँ अस्तित्व में आईं।

प्रत्येक ब्रह्मदेय की देख-रेख प्रमुख ब्राह्मण भूस्वामियों की एक सभा द्वारा की जाती थी। ये सभाएँ

बहुत कुशलतापूर्वक काम करती थीं। इनके निर्णय शिलालेखों में प्रायः मंदिरों की पत्थर की दीवारों पर, ब्यौरेवार दर्ज किए जाते थे। 'नगरम' के नाम से ज्ञात व्यापारियों के संघ भी अकसर शहरों में प्रशासनिक कार्य संपादित करते थे।

भूमि के प्रकार

चोल अभिलेखों में भूमि की विभिन्न कोटियों का उल्लेख मिलता है।

वेल्लनवगाई

गैर-ब्राह्मण किसान स्वामी की भूमि

ब्रह्मदेय

ब्राह्मणों को उपहार में दी गई भूमि

शालाभोग

किसी विद्यालय के रखरखाव के लिए भूमि

देवदान, तिरुनमटुक्कनी

मंदिर को उपहार में दी गई भूमि

पल्लिच्चंदम

जैन संस्थानों को दान दी गई भूमि

NOTES

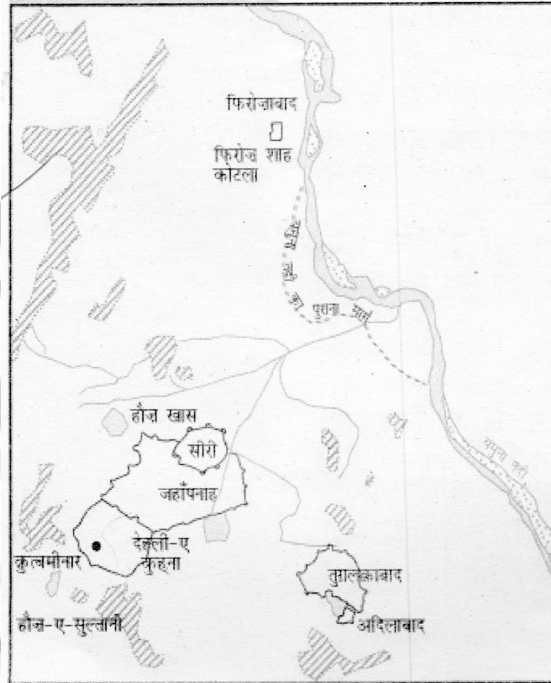
तमिलनाडु के चिंगलपुट जिले के उत्तरमेरुर से प्राप्त अभिलेखों में इस बात का सविस्तर वर्णन है कि ब्राह्मणों की सभा का संगठन कैसा था। सिंचाई के कामकाज, बाग-बगीचों, मंदिरों इत्यादि की देख-रेख के लिए सभा में विभिन्न समितियाँ होती थीं। इनमें सदस्यता के लिए जो लोग योग्य होते थे, उनके नाम तालपत्र के छोटे टिकटों पर लिखे जाते थे और मिट्टी के बर्तन में रख दिए जाते थे और किसी छोटे लड़के को हर समिति के लिए एक के बाद एक टिकट निकालने के लिए कहा जाता था।



NOTES

इकाई-13 : दिल्ली के सुल्तान

पहले पहल तोमर राजपूतों के काल में दिल्ली किसी साम्राज्य की राजधानी बनी। बारहवीं सदी के मध्य में तोमरों को अजमेर के चौहानों (जिन्हें चाहमान नाम से भी जाना जाता है) ने परास्त किया। तोमरों और चौहानों के राज्यकाल में ही दिल्ली वाणिज्य का एक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। इस शहर में बहुत सारे समृद्धिशाली जैन व्यापारी रहते थे जिन्होंने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। यहाँ देहलीवाल कहे जाने वाले सिक्के भी ढाले जाते थे जो काफी प्रचलन में थे।

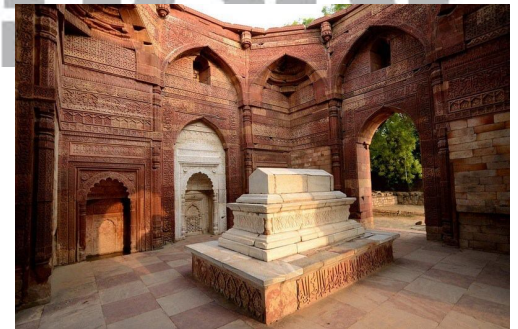


13वीं सदी में दिल्ली सल्तनत के चुने हुए शहर
तेरहवीं सदी के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई और इसके साथ दिल्ली एक ऐसी राजधानी में बदल गई जिसका नियंत्रण इस उपमहाद्वीप के बहुत बड़े क्षेत्र पर फैला था।

**तालिका 1
दिल्ली के शासक**

राजपूत वंश

तोमर	आरंभिक बारहवीं शताब्दी-1165
अनंगपाल	1130-1145
चौहान	1165-1192
पृथ्वीराज चौहान	1175-1192
प्रारंभिक तुर्की शासक	1206-1290
कुतुबुद्दीन ऐबक	1206-1210
शमसुद्दीन इल्तुतमिश	1210-1236
रजिया	1236-1240
ग्यासुद्दीन बलबन	1266-1287



इल्तुतमिश का मकबरा

NOTES



अलाई दरवाजा

सैयद वंश	1414-1451
खिज़्र खान	1414-1421
लोदी वंश	1451-1526
बहलोल लोदी	1451-1489

खलजी वंश	1290-1320
जलालुद्दीन खलजी	1290-1296
अलाउद्दीन खलजी	1296-1316
तुगलक वंश	1320-1414
गयासुद्दीन तुगलक	1320-1324
मुहम्मद तुगलक	1324-1351
फिरोज शाह तुगलक	1351-1388



फिरोज शाह तुगलक का मकबरा

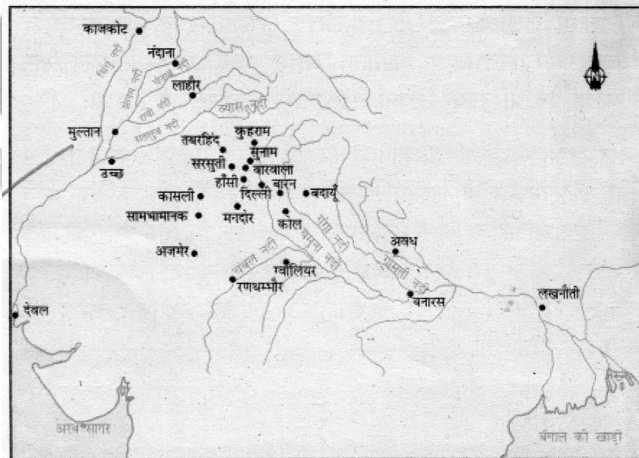
दिल्ली सल्तनत की जानकारी के स्रोत

हालाँकि अभिलेख, सिक्कों और स्थापत्य (भवन निर्माण कला) के माध्यम से काफी सूचना मिलती है, मगर और भी महत्वपूर्ण वे 'इतिहास', तवारीख हैं जो सुल्तानों के शासनकाल में, प्रशासन की भाषा फारसी में लिखे गए थे।

तवारीख के लेखक सचिव, प्रशासक, कवि और दरबारियों जैसे सुशिक्षित व्यक्ति होते थे जो घटनाओं का वर्णन भी करते थे और शासकों को प्रशासन संबंधी सलाह भी देते थे। वे न्यायसंगत शासन के महत्त्व पर बल देते थे।

सन् 1236 में सुल्तान इल्तुतमिश की बेटी रजिया सिंहासन पर बैठी। उस युग के इतिहासकार मिन्हाज-ए-सिराज ने स्वीकार किया है कि वह अपने सभी भाइयों से अधिक योग्य और सक्षम थी, लेकिन फिर भी वह एक रानी को शासक के रूप में मान्यता नहीं दे पा रहा था। दरबारी जन भी उसके स्वतंत्र रूप से शासन करने की कोशिशों से प्रसन्न नहीं थे। सन् 1240 में उसे सिंहासन से हटा दिया गया।

दिल्ली सल्तनत का विस्तार

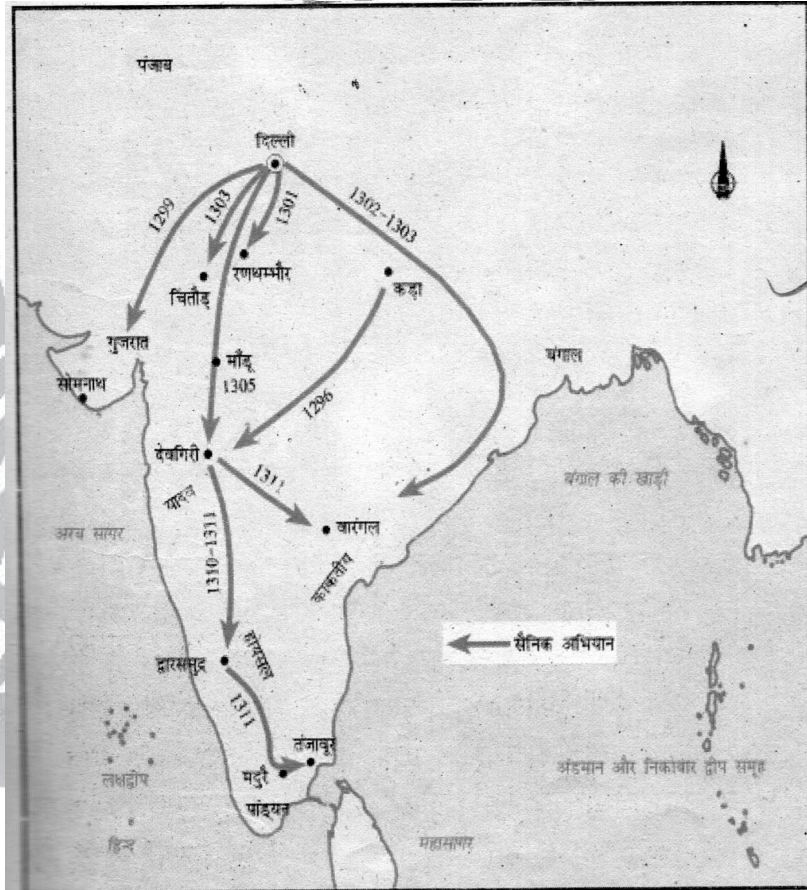


इसका विस्तार अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल में हुआ।

NOTES

सल्तनत की 'भीतरी सीमाओं' में जो अभियान चले उनका लक्ष्य था गैरिसन शहरों की पृष्ठभूमि में स्थित भीतरी क्षेत्रों की स्थिति को मजबूत करना। इन अभियानों के दौरान गंगा-यमुना के दोआब से जंगलों को साफ कर दिया गया और शिकारी-संग्राहकों तथा चरवाहों को उनके पर्यावास से खदेड़ दिया गया। वह जमीन किसानों को दे दी गई और कृषि-कार्य को प्रोत्साहन दिया गया। व्यापार-मार्गों की सुरक्षा और क्षेत्रीय व्यापार की उन्नति की खातिर नए किले, गैरिसन शहर बनाए-बसाए गए। **गैरिसन शहर-किलेबंद** बसाव जहाँ सैनिक रहते हैं।

दूसरा विस्तार सल्तनत की बाहरी सीमा पर हुआ। अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल में दक्षिण भारत को लक्ष्य करके सैनिक अभियान शुरू हुए (देखें, मानचित्र) और ये अभियान मुहम्मद तुगलक के समय में अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। इन अभियानों में सल्तनत की सेनाओं ने हाथी, घोड़े, गुलाम और मूल्यवान धातुएँ अपने कब्जे में ले लीं।



अलाउद्दीन खलजी का दक्षिण भारत अभियान

दिल्ली सल्तनत की सेनाओं की शुरुआत अपेक्षाकृत कमजोर थी, मगर डेढ़ सौ वर्ष बाद, मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल के अंत तक इस उपमहाद्वीप का एक विशाल क्षेत्र इसके युद्ध-अभियान के अंतर्गत आ चुका था। इसने शत्रुओं की सेनाओं को परास्त किया और शहरों पर कब्जा किया। इसके सूबेदार और प्रशासक मुकदमों में फैसले सुनाते थे और साथ ही किसानों से कर वसूल करते थे। लेकिन इतने विशाल क्षेत्र पर इनका नियंत्रण किस सीमा तक और कितना प्रभावी था?

सल्तनतकालीन प्रशासन

पहले वाले सुल्तानों की ही तरह खलजी और तुगलक शासकों ने भी सेनानायकों को भिन्न-भिन्न आकार के इलाकों के सूबेदार के रूप में नियुक्त किया। ये इलाके इक्ता कहलाते थे और इन्हें सँभालने वाले अधिकारी इक्तादार या मुक्ती कहे जाते थे। मुक्ती का फर्ज था सैनिक अभियानों का नेतृत्व करना और

NOTES

अपने इक्तों (सूबों) में कानून और व्यवस्था बनाए रखना। अपनी सैनिक सेवाओं के बदले वेतन के रूप में मुक्ती अपने इलाकों से राजस्व की वसूली किया करते थे। राजस्व के रूप में मिली रकम से ही वे अपने सैनिकों को भी तनखाह देते थे। मुक्ती लोगों पर काबू रखने का सबसे प्रभावी तरीका यह था कि उनका पद वंश-परंपरा से न चले और उन्हें कोई भी इक्ता थोड़े-थोड़े समय के लिए ही मिले, जिसके बाद उनका स्थानांतरण कर दिया जाए। सुल्तान अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में नौकरी के इन कठोर नियमों का बड़ी सख्ती से पालन होता था। मुक्ती लोगों द्वारा एकत्रित किए गए राजस्व की रकम का हिसाब लेने के लिए राज्य द्वारा लेखा अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि मुक्ती राज्य द्वारा निर्धारित कर ही वसूलें और तय संख्या के अनुसार सैनिक रखें।

जब दिल्ली के सुलतान शहरों से दूर आंतरिक इलाकों को भी अपने अधिकार में ले आए तो उन्होंने भूमि के स्वामी सामंतों और अमीर जमींदारों को भी अपनी सत्ता के आगे झुकने को बाध्य कर दिया। अलाउद्दीन खलजी के शासनकाल में भू-राजस्व के निर्धारण और वसूली के कार्य को राज्य अपने नियंत्रण में ले आया। स्थानीय सामंतों से कर लगाने का अधिकार छीन लिया गया, बल्कि स्वयं उन्हें भी कर चुकाने को बाध्य किया गया। सुल्तान के प्रशासकों ने जमीन की पैमाइश की और इसका हिसाब बड़ी सावधानी से रखा। कुछ पुराने सामंत और जमींदार राजस्व के निर्धारण और वसूली अधिकारी के रूप में सल्तनत की नौकरी करने लगे। उस समय तीन तरह के कर थे। (1) कृषि कर, जिसे खराज कहा जाता था और जो किसान की उपज का लगभग पचास प्रतिशत होता था; (2) मवेशियों पर कर, तथा (3) घरों पर कर।

यह याद रखना जरूरी है कि इस उपमहाद्वीप का काफी बड़ा हिस्सा दिल्ली के सुल्तानों के अधिकार से बाहर ही था। दिल्ली से बंगाल जैसे सुदूर प्रांतों का नियंत्रण कठिन था और दक्षिण भारत की विजय के तुरंत बाद ही वह पूरा क्षेत्र फिर-से स्वतंत्र हो गया था। यहाँ तक कि गंगा के मैदानी इलाके में भी घने जंगलों वाले ऐसे क्षेत्र थे, जिनमें पैठने में सुलतान की सेनाएँ अक्षम थीं। स्थानीय सरदारों ने इन क्षेत्रों में अपना शासन जमा लिया। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक इन इलाकों पर जोर-जबरदस्ती अपना अधिकार जमा तो लेते थे, पर वह अधिकार कुछ ही समय तक रह पाता था।

चंगेज खान के नेतृत्व में मंगोलों ने 1219 में उत्तर-पूर्वी ईरान में ट्रांसऑक्सियाना (आधुनिक उज़बेकिस्तान) पर हमला किया और इसके शीघ्र बाद ही दिल्ली सल्तनत को उनका धावा झेलना पड़ा। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक के शासनकालों के आरंभ में दिल्ली पर मंगोलों के धावे बढ़ गए। इससे मज़बूत होकर दोनों ही सुलतानों को एक विशाल स्थानीय सेना खड़ी करनी पड़ी। इतनी विशाल सेना को सँभालना प्रशासन के लिए भारी चुनौती थी। आइए, देखें कि दोनों सुलतानों ने इस चुनौती का सामना कैसे किया।

अलाउद्दीन खलजी	मुहम्मद तुगलक
दिल्ली पर दो बार हमले हुए : 1299/1300 में और 1302-1303 में। इनका सामना करने के लिए अलाउद्दीन खलजी ने एक विशाल स्थायी सेना खड़ी की।	मुहम्मद तुगलक के शासन के प्रारंभिक वर्षों में सल्तनत पर हमला हुआ। मंगोल सेना परास्त हो गई। मुहम्मद तुगलक को अपनी सेना की शक्ति और अपने संसाधनों पर इतना विश्वास था कि उसने ट्रांसऑक्सियाना पर आक्रमण की योजना बना ली। एक स्थायी सेना तैयार करना उसका आक्रामक कदम था।

NOTES

अलाउद्दीन खलजी ने अपने सैनिकों के लिए सीरी नामक एक नया गैरिसन शहर बनाया।

नया गैरिसन शहर बनाने के स्थान पर दिल्ली के चार शहरों में से सबसे पुराने शहर देहली-ए कुहना को निवासियों से खाली करवा कर वहाँ सैनिक छावनी बना दी गई। पुराने शहर के निवासियों को दक्षिण में बनी नयी राजधानी दौलताबाद भेज दिया गया।

सैनिकों के पेट भरने की समस्या को गंगा-यमुना के बीच की भूमि से कर के रूप में खेती की पैदावार इकट्ठी करके हल किया गया। किसानों की पैदावार का 50 प्रतिशत हिस्सा कर (टैक्स) के तौर पर तय कर दिया गया था।

सेना को खिलाने के लिए उसी इलाके से खाद्यान्न इकट्ठा किया गया। लेकिन सैनिकों की विशाल संख्या की जरूरतें पूरी करने के लिए सुल्तान ने अतिरिक्त कर भी लगाए। इसी दौरान उस क्षेत्र में अकाल भी पड़ा।

सैनिकों को वेतन भी देना होता था। अलाउद्दीन ने सैनिकों को इक्ता के स्थान पर नकद वेतन देना तय किया। सैनिक अपना आवश्यक सामान दिल्ली के व्यापारियों से खरीदते थे और यह आशंका थी कि व्यापारी अपनी चीजों की कीमतें बढ़ा देंगे। इसे रोकने के लिए अलाउद्दीन ने दिल्ली में चीजों की कीमतों पर नियंत्रण लागू कर दिया। अफसर बड़ी सावधानी से कीमतों का सर्वेक्षण करते थे और जो व्यापारी निश्चित दरों का उल्लंघन करते थे, उन्हें सज़ा मिलती थी।

मुहम्मद तुगलक भी अपने सैनिकों को नकद वेतन देता था। लेकिन कीमतों पर नियंत्रण करने की जगह उसने कुछ-कुछ आज की कागज़ी मुद्रा की तरह 'टोकन' (सांकेतिक) मुद्रा चलाई। ये सिक्के धातु के बने होते थे लेकिन सोने-चाँदी के न होकर सस्ती धातु के। चौदहवीं सदी के लोगों को इस मुद्रा पर भरोसा नहीं था। वे बड़े चतुर थे। अपने सोने-चाँदी के सिक्के वे बचाकर रख लेते थे और अपने तमाम कर (टैक्स) इस टोकन मुद्रा से ही चुकाते थे। इस सस्ती मुद्रा जैसे जाली सिक्के भी बड़ी आसानी से बनाए जा सकते थे।

अलाउद्दीन के प्रशासनिक कदम काफी सफल रहे और इतिहासकारों ने कीमतों में कमी और बाज़ार में वस्तुओं की कुशलता से आपूर्ति के लिए उसके शासनकाल की बहुत प्रशंसा की है। मंगोल आक्रमण के खतरे का भी उसने सफलतापूर्वक सामना किया।

मुहम्मद तुगलक द्वारा उठाए गए प्रशासनिक कदम बेहद असफल रहे। कश्मीर पर उसका आक्रमण पूरी तरह विफल रहा था। तब उसने तूरान पर हमला करने का इरादा छोड़ दिया और अपनी विशाल सेना को भंग कर दिया। इस बीच उसने प्रशासन संबंधी जो कदम उठाए थे, उनसे कई परेशानियाँ पैदा हो गईं। दौलताबाद ले जाए जाने से लोग बहुत नाराज़ थे। करों में वृद्धि और गंगा-यमुना के दोआब में अकाल से विक्षुब्ध जनता, बगावत पर उतर आई और मुहम्मद तुगलक को अंततः टोकन मुद्रा भी वापस लेनी पड़ी।

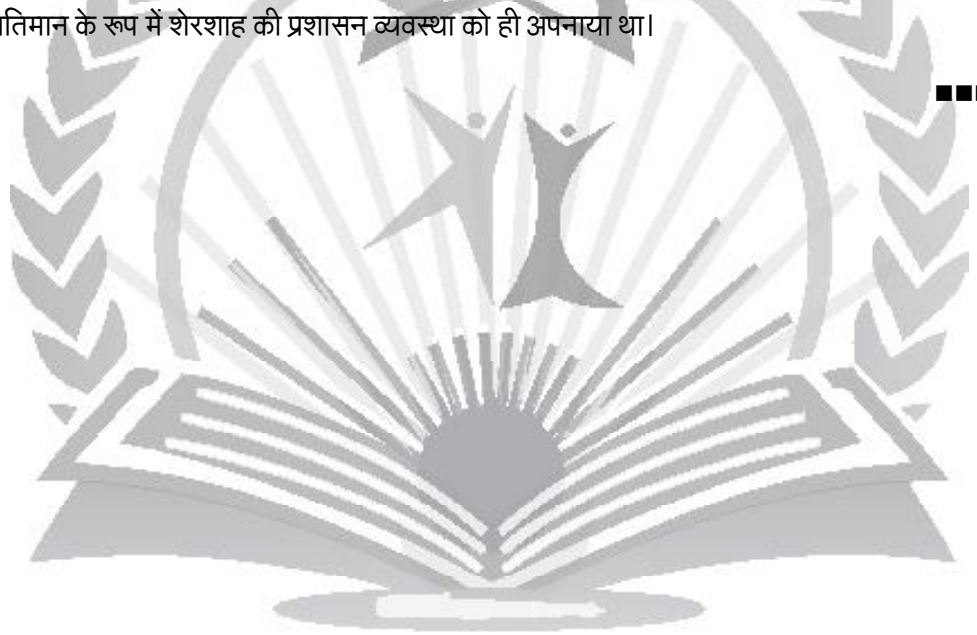
NOTES

पंद्रहवी तथा सोलहवीं शताब्दी में सल्तनत

तुगलक वंश के बाद 1526 तक दिल्ली तथा आगरा पर सैयद तथा लोदी वंशों का राज्य रहा। तब तक जौनपुर, बंगाल, मालवा, गुजरात, राजस्थान तथा पूरे दक्षिण भारत में स्वतंत्र शासक उठ खड़े हुए थे। उनकी राजधानियाँ समृद्ध थीं और राज्य फल-फूल रहे थे। इसी काल में अफगान तथा राजपूतों जैसे नए शासक समूह भी उभरे।

इस काल में स्थापित राज्यों में से कुछ छोटे तो थे पर शक्तिशाली थे और उनका शासन बहुत ही कुशल तथा सुव्यवस्थित तरीके से चल रहा था। शेरशाह सूरी (1540-1545) ने बिहार में अपने चाचा के एक छोटे-से इलाके के प्रबंधक के रूप में काम शुरू किया था और आगे चलकर उसने इतनी उन्नति की कि मुगल सम्राट हुमायूँ (1530-1540, 1555-1556) तक को चुनौती दी और परास्त किया। शेरशाह ने दिल्ली पर अधिकार करके स्वयं अपना राजवंश स्थापित किया। सूरी वंश ने केवल पंद्रह वर्ष (1540-1555) शासन किया, लेकिन इसके प्रशासन ने अलाउद्दीन खलजी वाले कई तरीकों को अपनाकर उन्हें और भी चुस्त बना दिया। महान सम्राट अकबर (1556-1605) ने जब मुगल साम्राज्य को समेकित किया, तो उसने अपने प्रतिमान के रूप में शेरशाह की प्रशासन व्यवस्था को ही अपनाया था।

■■■



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

NOTES

इकाई-14 : मुगल साम्राज्य

मध्यकाल में किसी भी शासक के लिए भारतीय उपमहाद्वीप जैसे बड़े क्षेत्र पर, जहाँ लोगों एवं संस्कृतियों में इतनी अधिक विविधताएँ हो, शासन कर पाना अत्यंत ही कठिन कार्य था। अपने पूर्ववर्तियों के विपरीत मुगलों ने एक साम्राज्य की स्थापना की और वह कार्य पूरा किया, जो अब तक केवल छोटी अवधियों के लिए ही संभव जान पड़ता था। सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध से, इन्होंने दिल्ली और आगरा से अपने राज्य का विस्तार शुरू किया और सत्रहवीं शताब्दी में लगभग संपूर्ण महाद्वीप पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उन्होंने प्रशासन के ढाँचे तथा शासन संबंधी जो विचार लागू किए, वे उनके राज्य के पतन के बाद भी टिके रहे। यह एक ऐसी राजनैतिक धरोहर थी, जिसके प्रभाव से उपमहाद्वीप में उनके पश्चात् आने वाले शासक अपने को अछूता न रख सकें। आज भारत के प्रधानमंत्री, स्वतंत्रता दिवस पर मुगल शासकों के निवासस्थान, दिल्ली के लालकिले की प्राचीर से राष्ट्र को संबोधित करते हैं।



लाल किला

मुगल कौन थे?

मुगल दो महान शासक वंशों के वंशज थे। माता की ओर से वे मंगोल शासक चंगेज़ खान जो चीन और मध्य एशिया के कुछ भागों पर राज करता था, के उत्तराधिकारी थे। पिता की ओर से वे ईरान, इराक एवं वर्तमान तुर्की के शासक तैमूर (जिसकी मृत्यु 1404 में हुई) के वंशज थे।

मुगल सैन्य अभियान

प्रथम मुगल शासक बाबर (1526-1530) ने जब 1494 में फरगना राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त किया, तो उसकी उम्र केवल बारह वर्ष की थी। मंगोलों की दूसरी शाखा, उज़बेगों के आक्रमण के कारण उसे अपनी पैतृक गद्दी छोड़नी पड़ी। अनेक वर्षों तक भटकने के बाद उसने 1504 में काबुल पर कब्ज़ा कर लिया। उसने 1526 में दिल्ली के सुल्तान इब्राहिम लोदी को पानीपत में हराया और दिल्ली और आगरा को अपने कब्ज़े में कर लिया।



चित्र - सोलहवीं शताब्दी के युद्धों में तोप और गोलाबारी का पहली बार इस्तेमाल हुआ। बाबर ने इनका पानीपत की पहली लड़ाई में प्रभावी ढंग से प्रयोग किया।

NOTES



मुगल सम्राट
प्रमुख अभियान और घटनाएँ

बाबर 1526-1530 ने

1526 में पानीपत के मैदान में इब्राहिम लोदी एवं उसके अफगान समर्थकों को हराया।

1527 में खानुवा में राणा सांगा, राजपूत, राजाओं और उनके समर्थकों को हराया।

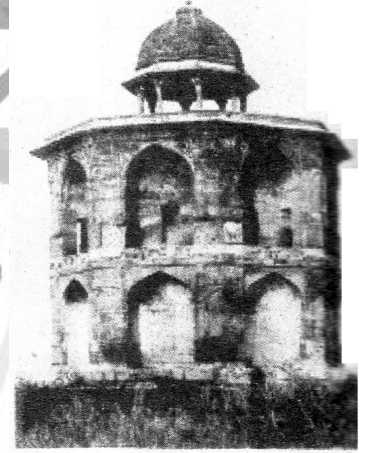
1528 में चंदेरी में राजपूतों को हराया।

अपनी मृत्यु से पहले दिल्ली और आगरा में मुगल नियंत्रण स्थापित किया।

हुमायूँ 1530-1540 एवं 1555-1556

(1) हुमायूँ ने अपने पिता की वसीयत के अनुसार जायदाद का बँटवारा किया। प्रत्येक भाई को एक-एक प्रांत मिला। उसके भाई मिर्जा कामरान की महत्वाकाँक्षाओं के कारण हुमायूँ अपने अफगान प्रतिद्वंद्वियों के सामने फीका पड़ गया। शेर खान ने हुमायूँ को दो बार हराया-1539 में चौसा में और 1540 में कन्नौज में। इन पराजयों ने उसे ईरान की ओर भागने को बाध्य किया।

(2) ईरान में हुमायूँ ने सफाविद शाह की मदद ली। उसने 1555 में दिल्ली पर पुनः कब्जा कर लिया परंतु उससे अगले वर्ष इस इमारत में एक दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गयी।



अकबर 1556-1605

13 वर्ष की अल्पायु में अकबर सम्राट बना।

उसके शासनकाल को तीन अवधियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) 1556 और 1570 के मध्य अकबर अपने संरक्षक बैरम खान और अपने घरेलू कर्मचारियों से स्वतंत्र हो गया। उसने सूरी और अन्य अफगानों, निकटवर्ती राज्यों मालवा और गोंडवाना तथा अपने सौतेले भाई मिर्जा हाकिम और उज़बेगों के विद्रोहों को दबाने के लिए सैन्य अभियान चलाए। 1568 में सिसौदियों की राजधानी चित्तौड़ और 1569 में रणथम्भौर पर कब्जा कर लिया गया।

(2) 1570 और 1585 के मध्य गुजरात के विरुद्ध सैनिक अभियान हुए। इन अभियानों के पश्चात् उसने पूर्व में बिहार, बंगाल और उड़ीसा में अभियान चलाए, जिन्हें 1579-80 में मिर्जा हाकिम के पक्ष में हुए विद्रोह ने और जटिल कर दिया।

(3) 1585-1605 के मध्य अकबर के साम्राज्य का विस्तार हुआ। उत्तर-पश्चिम में अभियान चलाए गए। सफाविदों को हराकर कांधार पर कब्जा किया गया और कश्मीर को भी जोड़ लिया गया। मिर्जा हाकिम की मृत्यु के पश्चात् काबुल को भी उसने अपने राज्य में मिला लिया। दक्कन में अभियानों की शुरुआत हुई और बरार, खानदेश और अहमदनगर के कुछ हिस्सों को भी

उसने अपने राज्य में मिला लिया। अपने शासन के अंतिम वर्षों में अकबर की सत्ता राजकुमार सलीम के विद्रोहों के कारण लड़खड़ायी। यही सलीम आगे चलकर सम्राट जहाँगीर कहलाया।



NOTES

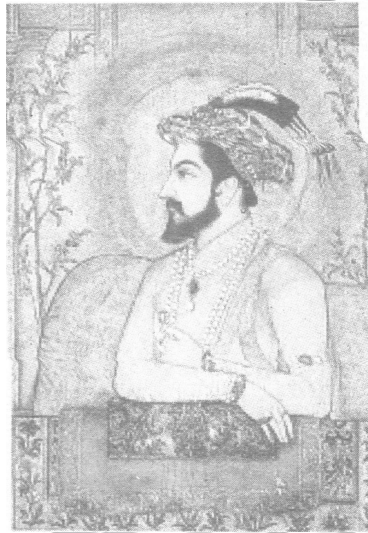
जहाँगीर 1605-1627

जहाँगीर ने अकबर के सैन्य अभियानों को आगे बढ़ाया। मेवाड़ के सिसोदिया शासक अमर सिंह ने मुगलों की सेवा स्वीकार की। इसके बाद सिक्खों, अहोमों और अहमदनगर के खिलाफ अभियान चलाए गए, जो पूर्णतः सफल नहीं हुए।

जहाँगीर के शासन के अंतिम वर्षों में राजकुमार खुर्रम, जो बाद में सम्राट शाहजहाँ कहलाया, ने विद्रोह किया। जहाँगीर की पत्नी नूरजहाँ ने शाहजहाँ को हाशिए पर धकेलने के प्रयास किए, जो असफल रहे।



शाहजहाँ 1627-1658



दक्कन में शाहजहाँ के अभियान जारी रहे। अफगान अभिजात खान जहान लोदी ने विद्रोह किया और वह पराजित हुआ। अहमदनगर के विरुद्ध अभियान हुआ जिसमें बुंदेलों की हार हुई और ओरछा पर कब्जा कर लिया गया। उत्तर-पश्चिम में बल्ख पर कब्जा करने के लिए उज़बेगों के विरुद्ध अभियान हुआ जो असफल रहा। परिणामस्वरूप कांधार सफाविदों के हाथ में चला गया। 1632 में अंततः अहमदनगर को मुगलों के राज्य में मिला लिया गया और बीजापुर की सेनाओं ने सुलह के लिए निवेदन किया। 1657-58 में शाहजहाँ के पुत्रों के बीच उत्तराधिकार को लेकर झगड़ा शुरू हो गया। इसमें औरंगज़ेब की विजय हुई और द्वारा शिकोह समेत उसके तीनों भाइयों को मौत के घाट उतार दिया गया। शाहजहाँ को उसकी शेष जिंदगी के लिए आगरा में कैद कर दिया गया।

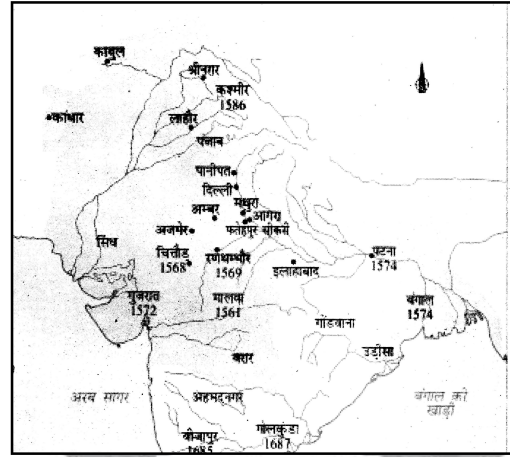
औरंगज़ेब 1658-1707

(1) 1663 में उत्तर-पूर्व में अहोमों की पराजय हुई परंतु उन्होंने 1680 में पुनः विद्रोह कर दिया। उत्तर-पश्चिम में यूसफज़ई और सिक्खों के विरुद्ध अभियानों को अस्थायी सफलता मिली। मारवाड़ के राठौड़ राजपूतों ने मुगलों के खिलाफ विद्रोह किया। इसका कारण था उनकी आंतरिक राजनीति और उत्तराधिकार के मसलों में मुगलों का हस्तक्षेप। मराठा सरदार, शिवाजी के विरुद्ध मुगल अभियान प्रारंभ में सफल रहे। परंतु औरंगज़ेब ने शिवाजी का अपमान किया और शिवाजी आगरा स्थित मुगल कैदखाने से भाग निकले। उन्होंने अपने को स्वतंत्र शासक घोषित करने के पश्चात् मुगलों के विरुद्ध पुनः अभियान चलाए। राजकुमार अकबर ने औरंगज़ेब के विरुद्ध विद्रोह किया, जिसमें उसे मराठों और दक्कन की सल्तनत का सहयोग मिला। अन्ततः वह सफाविद ईरान भाग गया।



(2) अकबर के विद्रोह के पश्चात् औरंगज़ेब ने दक्कन में शासकों के विरुद्ध सेनाएँ भेजी। 1685 में बीजापुर और 1687 में गोलकुंडा को मुगलों ने अपने राज्य में मिला लिया। 1698 में औरंगज़ेब ने दक्कन में मराठों, जो छापामार पद्धति का उपयोग कर रहे थे, के विरुद्ध अभियान का प्रबंध स्वयं किया। औरंगज़ेब को उत्तर भारत में सिक्खों, जाटों और सतनामियों, उत्तर-पूर्व में अहोमों और दक्कन में मराठों के विद्रोहों का सामना करना पड़ा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के लिए युद्ध शुरू हो गया।

NOTES



मानचित्र-अकबर का शासन, 1605

मुगलों के अन्य शासकों के साथ संबंध

मुगलों ने उन शासकों के विरुद्ध लगातार अभियान किए जिन्होंने उनकी सत्ता को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। जब मुगल शक्तिशाली हो गए तो अन्य कई शासकों ने स्वेच्छा से उनकी सत्ता स्वीकार कर ली। राजपूत इसका एक अच्छा उदाहरण हैं। अनेकों ने मुगल घराने में अपनी पुत्रियों के विवाह करके उच्च पद प्राप्त किए। परंतु कइयों ने विरोध भी किया।

मेवाड़ के सिसोदिया राजपूत लंबे समय तक मुगलों की सत्ता को स्वीकार करने से इंकार करते रहे, परंतु जब वे हारे तो मुगलों ने उनके साथ सम्माननीय व्यवहार किया और उन्हें उनकी जागीरें (वतन), वतन जागीर के रूप में वापिस कर दीं। पराजित करने परंतु अपमानित न करने के बीच सावधानी से बनाए गए संतुलन की वजह से मुगल भारत के अनेक शासकों और सरदारों पर अपना प्रभाव बढ़ा पाए।

मनसबदार और जागीरदार

मुगलों की सेवा में आने वाले नौकरशाह 'मनसबदार' कहलाए।

'मनसबदार' शब्द का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए होता था, जिन्हें कोई मनसब यानी कोई सरकारी हैसियत अथवा पद मिलता था। यह मुगलों द्वारा चलाई गई श्रेणी व्यवस्था थी, जिसके जरिए (1) पद; (2) वेतन; एवं (3) सैन्य उत्तरदायित्व, निर्धारित किए जाते थे। पद और वेतन का निर्धारण जात की संख्या पर निर्भर था। जात की संख्या जितनी अधिक होती थी, दरबार में अभिजात की प्रतिष्ठा उतनी ही बढ़ जाती थी और उसका वेतन भी उतना ही अधिक होता था।

जो सैन्य उत्तरदायित्व मनसबदारों को सौंपे जाते थे उन्हीं के अनुसार उन्हें घुड़सवार रखने पड़ते थे। मनसबदार अपने सवारों को निरीक्षण के लिए लाते थे। वे अपने सैनिकों के घोड़ों को दगवाते थे एवं सैनिकों का पंजीकरण करवाते थे। इन कार्यवाहियों के बाद ही उन्हें सैनिकों को वेतन देने के लिए धन मिलता था।

मनसबदार अपना वेतन राजस्व एकत्रित करने वाली भूमि के रूप में पाते थे, जिन्हें जागीर कहते थे और तो तकरीबन 'इक्ताओं' के समान थीं। परंतु मनसबदार, मुक्तियों से भिन्न, अपने जागीरों पर नहीं रहते थे और न ही उन पर प्रशासन करते थे। उनके पास अपनी जागीरों से केवल राजस्व एकत्रित करने का अधिकार था। यह राजस्व उनके नौकर उनके लिए एकत्रित करते थे, जबकि वे स्वयं देश के किसी अन्य भाग में सेवारत रहते थे।

अकबर के शासनकाल में इन जागीरों का सावधानीपूर्वक आकलन किया जाता था, ताकि इनका राजस्व मनसबदार के वेतन के तकरीबन बराबर रहे। औरंगज़ेब के शासनकाल तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति बदल गई। अब प्राप्त राजस्व, मनसबदार के वेतन से बहुत कम था। मनसबदारों की संख्या में भी अत्यधिक वृद्धि हुई, जिसके कारण उन्हें जागीर मिलने से पहले एक लंबा इंतजार करना पड़ता था। इन सभी कारणों से जागीरों की संख्या में कमी हो गई। फलस्वरूप कई जागीरदार, जागीर रहने पर यह कोशिश करते थे कि

वे जितना राजस्व वसूल कर सकें, कर लें। अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में औरंगज़ेब इन परिवर्तनों पर नियंत्रण नहीं रख पाया। इस कारण किसानों को अत्यधिक मुसीबतों का सामना करना पड़ा।

जब्त और जमीदार

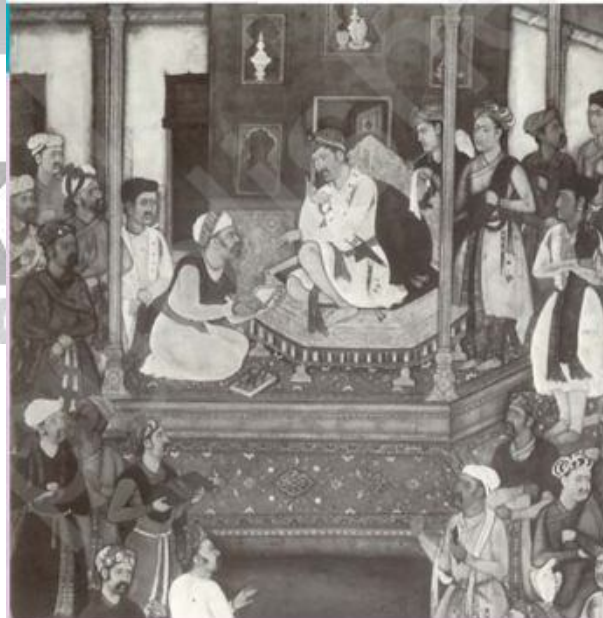
मुगलों की आमदनी का प्रमुख साधन किसानों की उपज से मिलने वाला राजस्व था। अधिकतर स्थानों पर किसान ग्रामीण कुलीनों यानी कि मुखिया या स्थानीय सरदारों के माध्यम से राजस्व देते थे। समस्त मध्यस्थों के लिए, चाहे वे स्थानीय ग्राम के मुखिया हो या फिर शक्तिशाली सरदार हों, मुगल एक ही शब्द-जमीदार-का प्रयोग करते थे।

अकबर के राजस्वमंत्री टोडरमल ने दस साल (1570-1580) की कालावधि के लिए कृषि की पैदावार, कीमतों और कृषि भूमि का सावधानीपूर्वक सर्वेक्षण किया। इन आँकड़ों के आधार पर, प्रत्येक फसल पर नकद के रूप में कर (राजस्व) निश्चित कर दिया गया। प्रत्येक सूबे (प्रांत) को राजस्व मंडलों में बाँटा गया और प्रत्येक की हर फसल के लिए राजस्व दर की अलग सूची बनायी गई। राजस्व प्राप्त करने की इस व्यवस्था को 'जब्त' कहा जाता था। यह व्यवस्था उन स्थानों पर प्रचलित थी जहाँ पर मुगल प्रशासनिक अधिकारी भूमि का निरीक्षण कर सकते थे और सावधानीपूर्वक उनका हिसाब रख सकते थे। ऐसा निरीक्षण गुजरात और बंगाल जैसे प्रांतों में संभव नहीं हो पाया।

कुछ क्षेत्रों में जमीदार इतने शक्तिशाली थे कि मुगल प्रशासकों द्वारा शोषण किए जाने की स्थिति में वे विद्रोह कर सकते थे। कभी-कभी एक ही जाति के जमीदार और किसान मुगल सत्ता के खिलाफ मिलकर विद्रोह कर देते थे। सत्रहवीं शताब्दी के आखिर से ऐसे किसान विद्रोहों ने मुगल साम्राज्य के स्थायित्व को चुनौती दी।

अकबर नामा और आइने-अकबरी

अकबर ने अपने करीबी मित्र और दरबारी अबुल फजल को आदेश दिया कि वह उसके शासनकाल का इतिहास लिखे। अबुल फजल ने यह इतिहास तीन जिल्दों में लिखा और इसका शीर्षक है अकबरनामा। पहली जिल्द में अकबर के पूर्वजों का बयान है और दूसरी अकबर के शासनकाल की घटनाओं का विवरण देती है। तीसरी जिल्द आइने-अकबरी है। इसमें अकबर के प्रशासन, घराने, सेना, राजस्व और साम्राज्य के भूगोल का ब्यौरा मिलता है। इसमें समकालीन भारत के लोगों की परंपराओं और संस्कृतियों का भी विस्तृत वर्णन है। आइने-अकबरी का सब से रोचक आयाम है, विविध प्रकार की चीजों-फसलों, पैदावार, कीमतों, मजदूरी और राजस्व-का सांख्यिकीय विवरण।



चित्र - अबुल फज़ल से अकबरनामा लेते हुए अकबर

NOTES

अकबर की नीतियाँ

प्रशासन के मुख्य अभिलक्षण अकबर ने निर्धारित किए थे और इनका विस्तृत वर्णन अबुल फजल की अकबरनामा, विशेषकर आइने-अकबरी में मिलता है। अबुल फजल के अनुसार साम्राज्य कई प्रांतों में बँटा हुआ था, जिन्हें 'सूबा' कहा जाता था। सूबों के प्रशासक 'सूबेदार' कहलाते थे, जो राजनैतिक तथा सैनिक, दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करते थे।

प्रत्येक प्रांत में एक वित्तीय अधिकारी भी होता था जो 'दीवान' कहलाता था। कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए सूबेदार को अन्य अफसरों का सहयोग प्राप्त था, जैसे कि बक्शी (सैनिक वेतनाधिकारी), सदर (धार्मिक और धर्मार्थ किए जाने वाले कार्यों का मंत्री), फौजदार (सेनानायक) और कोतवाल (नगर का पुलिस अधिकारी)।

अकबर के अभिजात, बड़ी सेनाओं का संचालन करते थे और बड़ी मात्रा में वे राजस्व खर्च कर सकते थे। जब तक वे वफ़ादार रहे, साम्राज्य का कार्य सफलतापूर्वक चलता रहा परंतु सत्रहवीं सदी के अंत तक कई अभिजातों ने अपने स्वतंत्रता के ताने-बाने बुन लिए थे। साम्राज्य के प्रति उनकी वफ़ादारी उनके निजी हितों के कारण कमजोर पड़ गई थी।

अकबर और सुलह-ए-कुल

1570 में अकबर जब फतेहपुर सीकरी में था, तो उसने उलेमा, ब्राह्मणों, जेसुइट पादरियों (जो रोमन कैथोलिक थे) और जरदुश्त धर्म के अनुयायियों के साथ धर्म के मामलों पर चर्चा शुरू की। ये चर्चाएँ इबादतखाना में हुईं। अकबर की रुचि विभिन्न व्यक्तियों के धर्मों और रीति-रिवाजों में थी। इस विचार-विमर्श से अकबर की समझ बनी कि जो विद्वान धार्मिक रीति और मतांधता पर बल देते हैं, वे अकसर कट्टर होते हैं। उनकी शिक्षाएँ प्रजा के बीज विभाजन और असामंजस्य पैदा करती हैं। ये अनुभव अकबर को सुलह-ए-कुल या 'सर्वत्र शांति' के विचार की ओर ले गए। सहिष्णुता की यह धारणा विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में अंतर नहीं करती थी अपितु इसका केंद्रबिंदु थी नीतिशास्त्र की एक व्यवस्था, जो सर्वत्र लागू की जा सकती थी और जिसमें केवल सच्चाई, न्याय और शांति पर बल था।



इबादतखाना में अकबर विभिन्न धर्मों के विद्वानों के साथ चर्चा करते हुए।

अबुल फजल ने सुलह-ए-कुल के इस विचार पर आधारित शासन-दृष्टि बनाने में अकबर की मदद की। शासन के इस सिद्धांत को जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अपनाया।

NOTES

सुलह-ए-कुल

अकबर की सुलह-ए-कुल की नीति का उनके पुत्र जहाँगीर ने इस प्रकार वर्णन किया है: ईश्वरीय अनुकंपा के विस्तृत आँचल में सभी वर्गों और सभी धर्मों के अनुयायियों की एक जगह है। इसलिए उसके विशाल साम्राज्य में, जिसकी चारों ओर की सीमाएँ केवल समुद्र से ही निर्धारित होती थी विरोधी धर्मों के अनुयायियों और तरह-तरह के अच्छे-बुरे विचारों के लिए जगह थी। यहाँ असिहष्णुता का मार्ग बंद था। यहाँ सुन्नी और शिया एक ही मसजिद में इकट्ठे होते थे और ईसाई और यहूदी एक ही गिरजे में प्रार्थना करते थे। उसने सुसंगत तरीके से 'सार्विक शांति' (सुलह-ए-कुल) के सिद्धांत का पालन किया।

सत्रहवीं शताब्दी में और उसके पश्चात् मुगल साम्राज्य

मुगल साम्राज्य की प्रशासनिक और सैनिक कुशलता के फलस्वरूप आर्थिक और वाणिज्यिक समृद्धि में वृद्धि हुई। विदेशी यात्रियों ने इसे वैसा धनी देश बताया, जैसा कि किस्से-कहानियों में वर्णित होता रहा है। परंतु यही यात्री इसी प्रचुरता के साथ मिलने वाली दरिद्रता को देखकर विस्मित रह गए। सामाजिक असमानताएँ साफ दिखाई पड़ती थीं। शाहजहाँ के शासनकाल के बीसवें वर्ष के दस्तावेजों से हमें पता चलता है कि ऐसे मनसबदार, जिनको उच्चतम पद प्राप्त था, कुल 8000 में 445 ही थे। कुल मनसबदारों की एक छोटी संख्या 5.6 प्रतिशत को ही साम्राज्य के अनुमानित राजस्व का 61.5 प्रतिशत, स्वयं उनके व उनके सवारों के वेतन के रूप में दिया जाता था।

मुगल सम्राट और उनके मनसबदार अपनी आय का बहुत बड़ा भाग वेतन और वस्तुओं पर लगा देते थे। इस खर्च से शिल्पकारों और किसानों को लाभ होता था, चूँकि वे वस्तुओं और फसल की पूर्ति करते थे। परंतु राजस्व का भार इतना था कि प्राथमिक उत्पादकों-किसान और शिल्पकारों-के पास निवेश के लिए बहुत कम धन बचता था। इनमें से जो बहुत गरीब थे, मुश्किल से ही पेट भर पाते थे। वे उत्पादन शक्ति बढ़ाने के लिए अतिरिक्त संसाधनों में औजारों और अन्य वस्तुओं में-निवेश करने की बात सोच भी नहीं सकते थे। ऐसी अर्थव्यवस्था में ज्यादा धनी किसान, शिल्पकारों के समूह, व्यापारी और महाजन ज्यादा लाभ उठाते थे।

मुगलों के कुलीन वर्ग के हाथों में बहुत धन और संसाधन थे, जिनके कारण सत्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों में वे अत्यधिक शक्तिशाली हो गए। जैसे-जैसे मुगल सम्राट की सत्ता पतन की ओर बढ़ती गई, वैसे-वैसे विभिन्न क्षेत्रों में सम्राट के सेवक, स्वयं ही सत्ता के शक्तिशाली केंद्र बनने लगे। इनमें से कुछ ने नए वंश स्थापित किए और हैदराबाद एवं अवध जैसे प्रांतों में अपना नियंत्रण जमाया। यद्यपि वे दिल्ली के मुगल सम्राट को स्वामी के रूप में मान्यता देते रहे, तथापि अठारहवीं शताब्दी तक साम्राज्य के कई प्रांत अपनी स्वतंत्र राजनैतिक पहचान बना चुके थे।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-15 : मध्ययुगीन कलाएँ

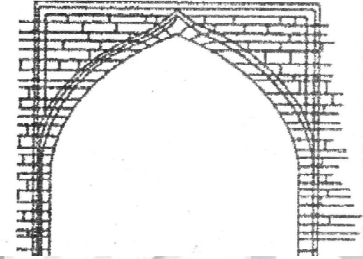
भवन-निर्माण कला

आठवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच राजाओं तथा उनके अधिकारियों ने दो तरह की इमारतों का निर्माण किया। पहली तरह की इमारतों में-सुरक्षित, संरक्षित तथा इस दुनिया और दूसरी दुनिया में आराम-विराम की भव्य जगहें-किले, महल तथा मकबरे थे। दूसरी श्रेणी में मंदिर, मसजिद, हौज़, कुएँ, सराय तथा बाज़ार जैसी जनता के उपयोग की इमारतें थीं।

सातवीं और दसवीं शताब्दी के मध्य वास्तुकार भवनों में और अधिक कमरे, दरवाज़े और खिड़कियाँ बनाने लगे। छत, दरवाज़े और खिड़कियाँ अभी भी दो ऊर्ध्वाधर खंभों के आर-पार एक अनुप्रस्थ शहतीर रखकर बनाए जाते थे। वास्तुकला की यह शैली 'अनुप्रस्थ टोडा निर्माण' कहलाई जाती है। आठवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच मंदिरों, मसजिदों, मकबरों तथा सीढ़ीदार कुँओं (बावली) से जुड़े भवनों के निर्माण में इस शैली का प्रयोग हुआ।



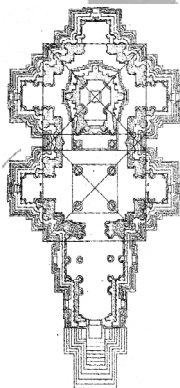
चित्र - दिल्ली की कुव्वत अल-इस्लाम मसजिद का एक हिस्सा (बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)



चित्र - मेहराब के निर्माण में अनुप्रस्थ टोडा तकनीक का इस्तेमाल

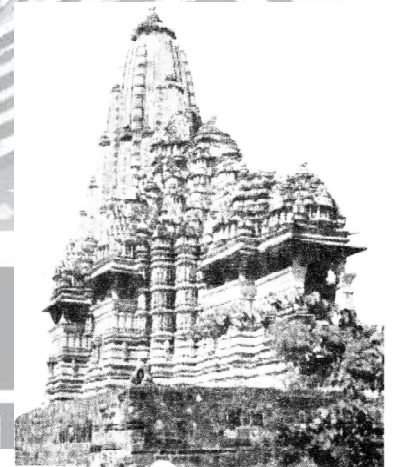
ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मंदिर निर्माण

शिव की स्तुति में बनाए गए कंदरिया महादेव मंदिर का निर्माण चंदेल राजवंश के राजा धंगदेव द्वारा 999 में किया गया था। एक अलंकृत द्वार से इसके प्रवेश भाग और मुख्य सभा भवन (महामंडप), जहाँ नृत्य का आयोजन होता था, तक पहुँचा जाता

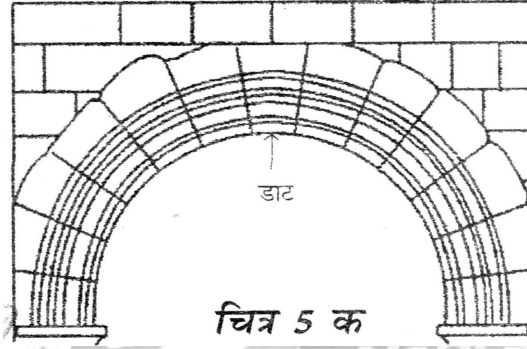


था। प्रमुख देवता की मूर्ति मुख्य मंदिर (गर्भगृह) में रखी जाती थी। धार्मिक अनुष्ठान इसी जगह संपन्न किए जाते थे तथा इसमें केवल राजा, उनका निकटतम परिवार तथा

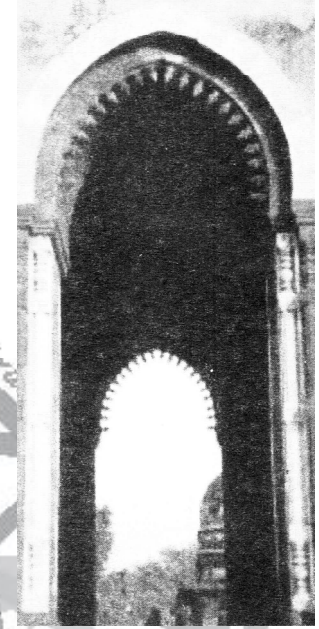
पुरोहित एकत्रित होते थे। खजुराहो समूह में राजकीय मंदिर सम्मिलित थे जहाँ सामान्य जनमानस को जाने की अनुमति नहीं थी। ये मंदिर सुपरिष्कृत उत्कीर्णित मूर्तियों से अलंकृत थे। बारहवीं शताब्दी में दो प्रौद्योगिकीय एवं शैली संबंधी परिवर्तन दिखाई पड़ने लगते हैं- (1) दरवाज़ों और खिड़कियों के ऊपर की अधिरचना का भार कभी-कभी मेहराबों पर डाल दिया जाता था। वास्तुकला का यह 'चापाकार' रूप था।



NOTES



चित्र-क मेहराब का 'विशुद्ध' रूप मेहराब के मध्य में 'डाटा' अधिरचना के भार को मेहराब की आधारशिला पर डाल देती है।



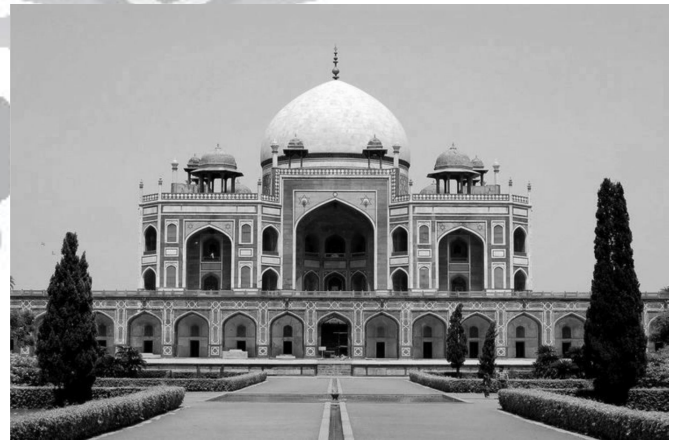
चित्र-ख मेहराब का विशुद्ध रूप अलाई दरवाजे का मेहराब (प्रारंभिक चौदहवीं सदी), कुव्वत अल-इस्लाम मसजिद, दिल्ली

(2) निर्माण कार्य में चूना-पत्थर सीमेंट का प्रयोग बढ़ गया। यह उच्च श्रेणी की सीमेंट होती थी, जिसमें पत्थर के टुकड़ों के मिलाने से कंकरीट बनती थी। इसकी वजह से विशाल ढाँचों का निर्माण सरलता और तेज़ी से होने लगा।

ग़ज़नी का सुल्तान महमूद राजेंद्र प्रथम का समकालीन था। भारत में अपने अभियानों के दौरान उसने पराजित राजाओं के मंदिरों को अपवित्र किया तथा उनके धन और मूर्तियों को लूट लिया। उस समय सुलतान महमूद कोई बहुत महत्वपूर्ण शासक नहीं था, लेकिन मंदिरों को नष्ट करके-खास तौर से सोमनाथ का मंदिर-उसने एक महान इस्लामी योद्धा के रूप में श्रेय प्राप्त करने का प्रयास किया। मध्ययुगीन राजनीतिक संस्कृति में ज्यादातर शासक अपने राजनैतिक बल व सैनिक सफलता का प्रदर्शन पराजित शासकों के उपासना स्थलों पर आक्रमण करके और उन्हें लूट कर करते थे।

बाग, मकबरे तथा किले

मुग़लों के अधीन वास्तुकला और अधिक जटिल हो गई। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और विशेष रूप से शाहजहाँ, साहित्य, कला और वास्तुकला में व्यक्तिगत रुचि लेते थे। अपनी आत्मकथा में बाबर ने औपचारिक बागों की योजनाओं और उनके बनाने में अपनी रुचि का वर्णन किया है। अकसर ये बाग दीवार से घिरे होते थे तथा कृत्रिम नहरों द्वारा चार भागों में विभाजित आयताकार अहाते में स्थित थे। औपचारिक बागों की योजनाओं और उनके बनाने तथा खाका तैयार करने में बाबर ने अपनी रुचि का वर्णन किया है।



1562 व 1571 के बीच निर्मित हुमायूँ का मकबरा।

NOTES

चार समान हिस्सों में बँटे होने के कारण ये चारबाग कहलाते थे। चारबाग बनाने की परंपरा अकबर के समय से शुरू हुई। कुछ सर्वाधिक सुंदर चारबागों को कश्मीर, आगरा और दिल्ली में जहाँगीर और शाहजहाँ ने बनवाया था।

अकबर के शासनकाल में कई तरह के महत्वपूर्ण वास्तुकलात्मक नवाचार हुए। इनकी प्रेरणा अकबर के वास्तुशिल्पियों ने उसके मध्य एशियाई पूर्वज तैमूर के मकबरों से ली। हुमायूँ के मकबरे में सबसे पहली बार दिखने वाला केंद्रीय गुंबद, (जो बहुत ऊँचा था) और ऊँचा मेहराबदार प्रवेशद्वार (पिश्तक) मुगल वास्तुकला के महत्वपूर्ण रूप बन गए। यह मकबरा एक विशाल औपचारिक चारबाग के मध्य में स्थित था। इसका निर्माण 'आठ स्वर्गों' अथवा हश्त बिहिश्त की परंपरा में

हुआ था, जिसमें एक केंद्रीय कक्ष, आठ कमरों से घिरा होता था। इस इमारत का निर्माण लाल बलुआ पत्थर से हुआ था इसके किनारे सफेद संगमरमर से बने थे।

शाहजहाँ ने दिल्ली के लालकिले के अपने नवनिर्मित दरबार में राजकीय न्याय और शाही दरबार के अंतः संबंध पर बहुत बल दिया। बादशाह के सिंहासन के पीछे पितरा-दूरा के जड़ाऊ काम की एक शृंखला बनाई गई थी, जिसमें पौराणिक यूनानी देवता आर्फियस को वीणा बजाते हुए चित्रित किया गया था।

पितरा-दूरा

उत्कीर्णित संगमरमर अथवा बलुआ पत्थर पर रंगीन, ठोस पत्थरों को दबाकर बनाए गए सुंदर तथा अलंकृत नमूने।

शाहजहाँ ने अपने शासन की भव्यतम वास्तुकलात्मक उपलब्धि ताजमहल के नक्शे में नदी-तट-बाग की योजना अपनाई। यहाँ सफेद संगमरमर का मकबरा नदी तट के एक चबूतरे पर तथा बाग इसके दक्षिण में बनाया गया था।



आगरा का ताजमहल, जिसका निर्माण 1643 में पूरा हुआ।

KOTHARI ■■■
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-16 : मध्ययुगीन व्यापार व शिल्प

मध्ययुगीन व्यापार

व्यापारी कई प्रकार के हुआ करते थे। उनमें बंजारे लोग भी शामिल थे। कई व्यापारी, विशेष रूप से घोड़ों के व्यापारी अपने संघ बनाते थे, जिनका एक मुखिया होता था और वह मुखिया उनकी ओर से घोड़े खरीदने के इच्छुक योद्धाओं से बातचीत करता था।

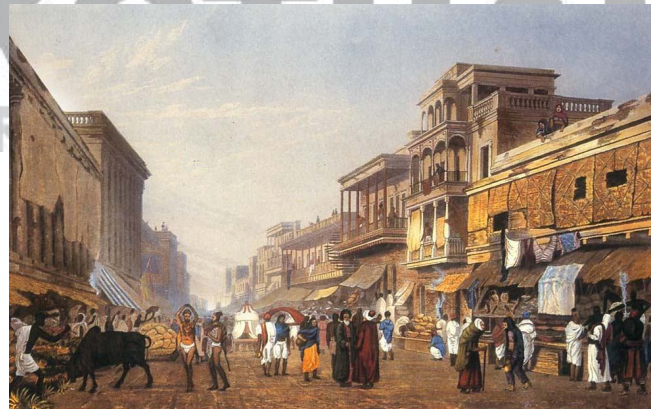
चूँकि व्यापारियों को अनेक राज्यों तथा जंगलों से होकर गुजरना पड़ता था। इसलिए वे आमतौर पर काफिले बनाकर एक साथ यात्रा करते थे और अपने हितों की रक्षा के लिए व्यापार-संघ (गिल्ड) बनाते थे। दक्षिण भारत में आठवीं शताब्दी और परवर्ती काल में अनेक ऐसे संघ थे। उनमें सबसे प्रसिद्ध 'मणिग्रामम्' और 'नानादेशी' थे। ये व्यापार संघ प्रायद्वीप के भीतर और दक्षिण-पूर्व एशिया तथा चीन के साथ भी दूर-दूर तक व्यापार करते थे।

इनके अलावा चेट्टियार और मारवाड़ी ओसवाल जैसे समुदाय भी थे, जो आगे चलकर देश के प्रधान व्यापारी समूह बन गए। गुजराती व्यापारियों में हिंदू बनिया और मुस्लिम बोहरा दोनों समुदाय शामिल थे। वे दूर-दूर तक लाल सागर के बंदरगाहों व फ़ारस की खाड़ी, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा चीन से व्यापार करते थे। वे इन पत्तनों में कपड़े और मसाले बेचते थे और बदले में अफ्रीका से सोना और हाथी दाँत एवं दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन से मसाले, टिन, मिट्टी के नीले बर्तन और चाँदी लाते थे।

पश्चिमी तट के नगरों में अरबी, फ़ारसी, चीनी, यहूदी और सीरियाई ईसाई बस गए थे। लाल सागर के बंदरगाहों में बेचे जाने वाले भारतीय मसाले और कपड़े इतालवी व्यापारियों द्वारा खरीदे जाते थे और वहाँ से वे उन्हें आगे यूरोपीय बाज़ारों में पहुँचाते थे। उनसे व्यापार में बहुत लाभ होता था। उष्णकटिबंधीय जलवायु में उगाए जाने वाले मसाले (कालीमिर्च, दालचीनी, जायफल, सोंठ आदि) यूरोपीय व्यंजनों के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए थे और भारतीय सूती कपड़ा बहुत लुभावना होता था। ये चीज़ें ही यूरोपीय व्यापारियों को भारत तक खींच लाईं।



मानचित्र - मध्य और दक्षिण भारत में व्यापार और शिल्पकारी उत्पादन के कुछ प्रमुख केंद्र



चित्र-मध्यकालीन नगर का एक बाजार

NOTES

सूरत प्रमुख वाणिज्यिक केन्द्र

सूरत, मुगलकाल में कैबे (आज के खंबात) और कुछ समय बाद के अहमदाबाद के साथ-साथ, गुजरात में पश्चिमी व्यापार का वाणिज्य केंद्र बन गया। सूरत ओरमुज की खाड़ी से होकर पश्चिमी एशिया के साथ व्यापार करने के लिए मुख्य द्वारा था। सूरत को मक्का का प्रस्थान द्वार भी कहा जाता था, क्योंकि बहुत-से हजयात्री, जहाज़ से यहीं से रवाना होते थे।

सूरत एक सर्वदेशीय नगर था, जहाँ सभी जातियों और धर्मों के लोग रहते थे। सत्रहवीं शताब्दी में वहाँ पुर्तगालियों, डचों और अंग्रेजों के कारखाने एवं मालगोदाम थे। अंग्रेज इतिहासकार ओविंगटन ने 1689

में सूरत बंदरगाह का वर्णन करते हुए लिखा है कि किसी भी एक वक्त पर भिन्न-भिन्न देशों के औसतन एक सौ जहाज़ इस बंदरगाह पर लंगर डाले खड़े देखे जा सकते थे।

सूरत में ऐसी अनेक दुकानें थीं जो सूती कपड़ा, थोक और फुटकर कीमतों पर बेचती थीं। सूरत के वस्त्र अपने सुनहरे गोटा-किनारियों (जरी) के लिए प्रसिद्ध थे और उनके लिए पश्चिम एशिया, अफ्रीका और यूरोप में बाज़ार उपलब्ध थे। राज्य ने विश्व के सभी भागों से नगर में आने वाले लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनेक विश्रामगृह बना रखे थे। वहाँ भव्य भवन और असंख्य मनोरंजक-स्थल थे। सूरत में काठियावाड़ी सेठों तथा महाजनों की बड़ी-बड़ी साहूकारी कंपनियाँ थीं। उल्लेखनीय है कि सूरत से जारी की गई हुंडियों को दूर-दूर तक मिस्र में काहिरा, इराक में बसरा और बेल्जियम में एंटवर्प के बाज़ारों में मान्यता प्राप्त थी।

किंतु सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में सूरत का भी अधःपतन प्रारंभ हो गया। इसके कई कारण थे- मुगल साम्राज्य के पतन के कारण बाज़ारों तथा उत्पादकता की हानि, पुर्तगालियों द्वारा समुद्री मार्गों पर नियंत्रण और बंबई (वर्तमान मुंबई) से

प्रतिस्पर्धा जहाँ 1668 में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना मुख्यालय स्थापित कर लिया था। आज सूरत एक महत्वपूर्ण वाणिज्यिक केंद्र है।

नए नगर और व्यापारी

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप के देश, व्यापारिक उद्देश्यों से मसालों और कपड़ों की तलाश में लगे हुए थे; जो यूरोप और पश्चिमी एशिया, दोनों जगह लोकप्रिय हो गए थे। अंग्रेजों, हॉलैंडवासियों और फ्रांसीसियों ने पूर्व में अपनी वाणिज्यिक गतिविधियों का विस्तार करने के लिए अपनी-अपनी ईस्ट इंडिया कंपनी बनाई। प्रारंभ में तो मुल्ला अब्दुल गफूर और वीरजी वोरा जैसे कुछ बड़े भारतीय व्यापारियों ने जिनके पास बड़ी संख्या में जहाज़ थे, उनका मुकाबला किया। किंतु यूरोपीय कंपनियों ने समुद्री व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए अपनी नौ-शक्ति का प्रयोग किया और भारतीय व्यापारियों को अपने एजेंट के रूप में कार्य करने के लिए मजबूर कर दिया। अंततः अंग्रेज, उपमहाद्वीप में सर्वाधिक सफल वाणिज्यिक एवं राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर स्थापित हो गए।

वस्त्रों जैसी वस्तुओं की माँग में तेज़ी आ जाने से अधिकाधिक लोगों ने कताई, बुनाई, धुलाई, रंगाई आदि का धंधा अपना लिया। इससे इन शिल्पों का बहुत विस्तार हुआ। भारतीय वस्त्रों के रूप-रंग और डिज़ाइन अधिकाधिक परिष्कृत होते गए, किंतु इस काल में शिल्पकारों की स्वतंत्रता घटने लगी। शिल्पीजन पेशागी की प्रणाली पर काम करने लगे, जिसका अर्थ यह था कि उन्होंने जिन यूरोपीय एजेंटों से पहले ही पेशागी ले ली थी, उन्हीं के लिए उन्हें कपड़ा बुनना होता था। अब बुनकरों को अपना कपड़ा या बुनाई के नमूने बेचने की स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें तो कंपनी के एजेंटों द्वारा निर्धारित डिज़ाइन के कपड़े उन्हीं की माँग के अनुसार बनाने पड़ते थे।

वाणिज्य केंद्र

एक ऐसा स्थान जहाँ विभिन्न उत्पादन केंद्रों से आने वाले माल खरीदा और बेचा जाता है।

हुंडी

एक ऐसा दस्तावेज़, जिसमें एक व्यक्ति द्वारा जमा कराई गई रकम दर्ज रहती है। हुंडी को कहीं अन्यत्र प्रस्तुत करके जमा की गई राशि प्राप्त की जा सकती है।

NOTES

अठारहवीं शताब्दी में बंबई, कलकत्ता और मद्रास नगरों का उदय हुआ, जो आज प्रमुख महानगर हैं। शिल्प और वाणिज्य में बड़े-बड़े परिवर्तन आए, जब बुनकर जैसे कारीगर तथा सौदागर यूरोपीय कंपनियों द्वारा इन नए नगरों में स्थापित 'ब्लैक टाउन्स' में स्थानांतरित हो गए। 'ब्लैक' यानी देसी व्यापारियों और शिल्पकारों को इन 'ब्लैक टाउन्स' में सीमित कर दिया गया, जबकि गोरे शासकों ने मद्रास में फ़ोर्ट सेंट जॉर्ज और कलकत्ता में फ़ोर्ट सेंट विलियम की शानदार कोठियों में अपने आवास बनाए।

वास्को-डि-गामा और क्रिस्टोफ़र कोलंबस

पंद्रहवीं शताब्दी में यूरोपीय नाविकों द्वारा समुद्री मार्ग खोजने के अभूतपूर्व कार्य किए गए। उनमें से अनेक नाविक भारतीय उपमहाद्वीप तक पहुँचने का मार्ग खोजने और मसाले प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित थे।

पुर्तगाली नाविक वास्को-डि-गामा अटलांटिक महासागर के साथ-साथ यात्रा करते हुए केप ऑफ गुड होप से निकलकर और हिंद महासागर को पार करके भारत पहुँचा। उसे अपनी पहली यात्रा को पूरा करने में एक वर्ष से भी अधिक समय लगा। वह 1498 में कालीकट पहुँचा और अगले वर्ष पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन लौट गया। इस समुद्री यात्रा के दौरान उसके चार में से दो जहाज नष्ट हो गए और 170 यात्रियों में केवल 54 ही जीवित बचे। इन प्रत्यक्ष खतरों के बावजूद जो मार्ग खोले या खोजे गए, वे अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुए और उसके बाद तो अंग्रेज़, हॉलैंडवासी और फ्रांसीसी नाविकों ने भी उसका अनुकरण करना प्रारंभ कर दिया।

भारत पहुँचने के लिए समुद्री मार्गों की खोज का एक अन्य सुपरिणाम निकला, जिसकी किसी को आशा नहीं थी। एक इटलीवासी क्रिस्टोफर कोलंबस ने भारत पहुँचने का मार्ग खोजने के लिए अटलांटिक महासागर को पार करके पश्चिम की ओर यात्रा करने का निश्चय किया। उसका सोचना था कि चूँकि पृथ्वी गोल है, इसलिए वह पश्चिम की ओर से भी भारत पहुँच सकता है। वह 1492 में वेस्टइंडीज के तट पर पहुँचा (वेस्टइंडीज का नाम इसी भ्रांति के कारण पड़ा)। उसके पीछे स्पेन और पुर्तगाल के नाविक और विजेता भी वहाँ आते रहे और उन्होंने मध्य और दक्षिणी अमेरिका के बड़े-बड़े भागों को अपने कब्जे में कर लिया और अकसर उन प्रदेशों की पहले वाली बस्तियों को नष्ट कर दिया।

मध्ययुगीन नगरों में शिल्प

बीदर के शिल्पकार ताँबे तथा चाँदी में जड़ाई के काम के लिए इतने अधिक प्रसिद्ध थे कि इस शिल्प का नाम ही 'बीदरी' पड़ गया। पांचाल अर्थात् विश्वकर्मा समुदाय जिसमें सुनार, कसेरे, लोहार, राजमिस्त्री और बढ़ाई शामिल थे; मंदिरों के निर्माण के लिए आवश्यक थे। इसके अलावा वे राजमहलों, बड़े-बड़े भवनों, तालाबों और जलाशयों के निर्माण में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। इसी प्रकार सालियार या कैक्कोलार जैसे बुनकर भी समृद्धिशाली समुदाय बन गए थे और वे मंदिरों को भारी दान-दक्षिणा दिया करते थे। वस्त्र-निर्माण से संबंधित कुछ अन्य कार्य, जैसे-कपास को साफ करना, कातना और रंगना भी स्वतंत्र व्यवसाय बन गए थे, जिनके लिए विशेषज्ञता की आवश्यकता होती थी।



चित्र-वास्को-डि-गामा



दक्षिण भारत में भक्ति का एक नया प्रकार-नयनार और अलवार

सातवीं से नौवीं शताब्दियों के बीच कुछ नए धार्मिक आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। इन आंदोलनों का नेतृत्व नयनारों (शैव संतों) और अलवारों (वैष्णव संतों) ने किया। ये संत सभी जातियों के थे। वे बौद्धों और जैनों के कटु आलोचक थे और शिव तथा विष्णु के प्रति सच्चे प्रेम को मुक्ति का मार्ग बताते थे। उन्होंने संगम साहित्य (तमिल साहित्य का प्राचीनतम उदाहरण और सामान्य सन् यानी ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में रचित) में समाहित प्यार और शूरवीरता के आदर्शों को अपना कर भक्ति के मूल्यों में उनका समावेश किया था। नयनार और अलवार घुमक्कड़ साधु-संत थे। वे जिस किसी स्थान या गाँव में जाते थे, वहाँ के स्थानीय देवी-देवताओं की प्रशंसा में सुंदर कविताएँ रचकर उन्हें संगीतबद्ध कर दिया करते थे।

दर्शन और भक्ति

भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिकों में से एक शंकर का जन्म आठवीं शताब्दी में केरल प्रदेश में हुआ था। वे अद्वैतवाद के समर्थक थे, जिसके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा (जो परम सत्य है), दोनों एक ही हैं। उन्होंने यह शिक्षा दी कि ब्रह्मा, जो एकमात्र या परम सत्य है, वह निर्गुण और निराकार है। शंकर ने हमारे चारों ओर के संसार को मिथ्या या माया माना और संसार का परित्याग करने अर्थात् संन्यास लेने और ब्रह्मा की सही प्रकृति को समझने और मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान के मार्ग को अपनाने का उपदेश दिया।

रामानुज ग्यारहवीं शताब्दी में तमिलनाडु में पैदा हुए थे। वे विष्णुभक्त अलवार संतों से बहुत प्रभावित थे। उनके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने का उपाय विष्णु के प्रति अनन्य भक्ति भावना रखना है। भगवान विष्णु की कृपा दृष्टि से भक्त उनके साथ एकाकार होने का परमानंद प्राप्त कर सकता है। रामानुज ने विशिष्टताद्वैत के सिद्धांत को प्रतिपादित किया, जिसके अनुसार आत्मा, परमात्मा से जुड़ने के बाद भी अपनी अलग सत्ता बनाए रखती है। रामानुज के सिद्धांत ने भक्ति की नयी धारा को बहुत प्रेरित किया, जो परवर्ती काल में उत्तरी भारत में विकसित हुई।

महाराष्ट्र के संत

तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक महाराष्ट्र में अनेकानेक संत कवि हुए, जिनके सरल मराठी भाषा में लिखे गए गीत आज भी जन-मन को प्रेरित करते हैं। उन संतों में सबसे महत्वपूर्ण थे- ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम तथा सखूबाई जैसी स्त्रियाँ तथा चोखामेळा का परिवार, जो 'अस्पृश्य' समझी जाने वाली महार जाति का था। भक्ति की यह क्षेत्रीय परंपरा पंढरपुर में विट्ठल (विष्णु का एक रूप) पर और जन-मन के हृदय में विराजमान व्यक्तिगत देव (ईश्वर) संबंधी विचारों पर केंद्रित थी।

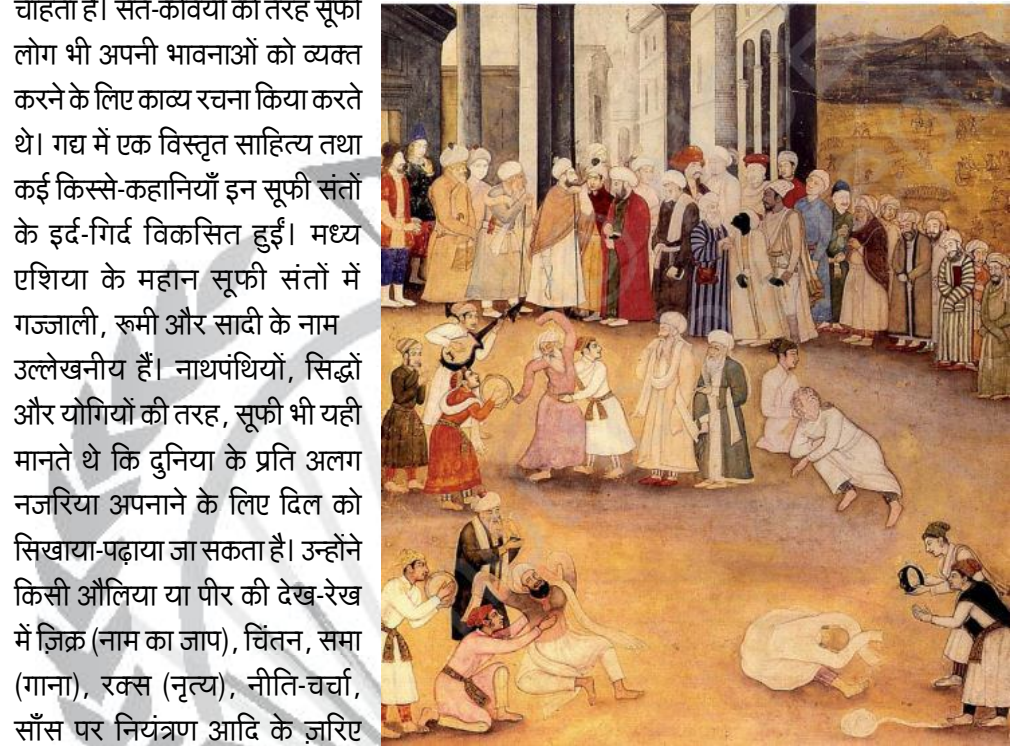
इन संत-कवियों ने सभी प्रकार के कर्मकांडों, पवित्रता के ढोंगों और जन्म पर आधारित सामाजिक अंतरों का विरोध किया। यहाँ तक कि उन्होंने संन्यास के विचार को भी ठुकरा दिया और किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह रोजी-रोटी कमाते हुए परिवार के साथ रहने और विनम्रतापूर्वक जरूरतमंद साथी व्यक्तियों की सेवा करते हुए जीवन बिताने को अधिक पसंद किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि असली भक्ति दूसरों के दुःखों को बाँट लेना है।

इस्लाम और सूफी मत

संतों और सूफियों में बहुत अधिक समानता थी, यहाँ तक कि यह भी माना जाता है कि उन्होंने आपस में कई विचारों का आदान-प्रदान किया और उन्हें अपनाया। सूफी मुसलमान रहस्यवादी थे। वे धर्म के बाहरी आडंबरों को अस्वीकार करते हुए ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति तथा सभी मनुष्यों के प्रति दयाभाव रखने पर बल देते थे।

NOTES

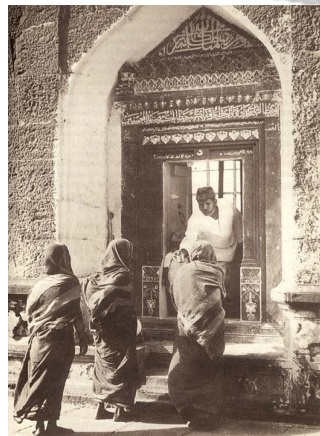
इस्लाम ने एकेश्वरवाद यानी एक अल्लाह के प्रति पूर्ण समर्पण का दृढ़ता से प्रचार किया। आठवीं और नवीं शताब्दी में धार्मिक विद्वानों ने पवित्र कानून (शरिया) और इस्लामिक धर्मशास्त्र के विभिन्न पहलुओं को विकसित किया। इस्लाम धीरे-धीरे और जटिल होता गया जबकि सूफियों ने एक अलग रास्ता दिखाया जो ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत समर्पण पर बल देता था। सूफी लोगों ने मुस्लिम धार्मिक विद्वानों द्वारा निर्धारित विशद कर्मकांड और आचार-संहिता को बहुत कुछ अस्वीकार कर दिया। वे ईश्वर के साथ ठीक उसी प्रकार जुड़े रहना चाहते थे, जिस प्रकार एक प्रेमी, दुनिया की परवाह किए बिना अपनी प्रियतमा के साथ जुड़े रहना चाहता है। संत-कवियों की तरह सूफी लोग भी अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए काव्य रचना किया करते थे। गद्य में एक विस्तृत साहित्य तथा कई किस्से-कहानियाँ इन सूफी संतों के इर्द-गिर्द विकसित हुईं। मध्य एशिया के महान सूफी संतों में गज्जाली, रूमी और सादी के नाम उल्लेखनीय हैं। नाथपंथियों, सिद्धों और योगियों की तरह, सूफी भी यही मानते थे कि दुनिया के प्रति अलग नजरिया अपनाने के लिए दिल को सिखाया-पढ़ाया जा सकता है। उन्होंने किसी औलिया या पीर की देख-रेख में ज़िक्र (नाम का जाप), चिंतन, समा (गाना), रक्स (नृत्य), नीति-चर्चा, साँस पर नियंत्रण आदि के ज़रिए प्रशिक्षण की विस्तृत रीतियों का



चित्र-आनंदित सूफी

विकास किया। इस प्रकार आध्यात्मिक सूफी उस्तादों की पीढ़ियों, सिलसिलाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से हरेक सिलसिला निर्देशों व धार्मिक क्रियाओं का थोड़ा-बहुत अलग तरीका अपनाती थी।

ग्यारहवीं शताब्दी से अनेक सूफी जन मध्य एशिया से आकर हिंदुस्तान में बसने लगे थे। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ यह प्रक्रिया उस समय और भी मज़बूत हो गई, जब उपमहाद्वीप में सर्वत्र बड़े-बड़े अनेक सूफी केंद्र विकसित हो गए। चिश्ती सिलसिला इन सभी सिलसिलों में सबसे अधिक प्रभावशाली था। इसमें औलियाओं की एक लंबी परंपरा थी, जैसे-अजमेर के ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती, दिल्ली के कुतबुद्दीन बख्तियार काकी, पंजाब के बाबा फरीद, दिल्ली के ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया और गुलबर्ग के बंदानवाज़ गेसूदराज।



सूफी दरगाह

सूफी संत अपने खानकाहों में विशेष बैठकों का आयोजन करते थे जहाँ सभी प्रकार के भक्तगण, जिनमें शाही घरानों के लोग तथा अभिजात और आम लोग भी शामिल होते थे। इन खानकाहों में आते थे। वे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करते थे। अपनी दुनियादारी की समस्याओं को सुलझाने के लिए संतों से आशीर्वाद माँगते थे अथवा संगीत तथा नृत्य के जलसों में शामिल होकर चले जाते थे।

NOTES

अकसर लोग यह समझते थे कि सूफी औलियाओं के पास चमत्कारिक शक्तियाँ होती हैं, जिनसे आम लोगों को बीमारियों और तकलीफों से छुटकारा मिल सकता है। सूफी संत की दरगाह एक तीर्थस्थल बन जाता था, जहाँ सभी ईमान-धर्म के लोग हजारों की संख्या में इकट्ठे होते थे।

खानकाह : सूफी सन्तों के रहने के स्थान को खानकाह कहते थे।

उत्तर भारत में धार्मिक बदलाव

तेरहवीं सदी के बाद उत्तरी भारत में भक्ति आंदोलन की एक नयी लहर आई। यह एक ऐसा युग था, जब इस्लाम, ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म, सूफीमत, भक्ति की विभिन्न धाराओं ने और नाथपंथियों, सिद्धों तथा योगियों ने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया। भारत में नए नगरों और राज्यों का उदभव हो रहा था और लोग अपने लिए नए-नए व्यवसाय और नयी-नयी भूमिकाएँ खोज रहे थे। ऐसे लोग विशेष रूप से शिल्पी, कृषक, व्यापारी और मजदूर थे, जो इन नए संतों के विचारों को सुनने के लिए इकट्ठे हो जाते थे। फिर वे उनका प्रचार करते थे।

उनमें से कबीर और बाबा गुरु नानक जैसे कुछ संतों ने सभी आडंबरपूर्ण रूढ़िवादी धर्मों को अस्वीकार कर दिया। तुलसीदास और सूरदास जैसे कुछ अन्य संतों ने उस समय विद्यमान विश्वासों तथा पद्धतियों को स्वीकार करते हुए उन्हें सब की पहुँच में लाने का प्रयत्न किया।

तुलसीदास ने ईश्वर को राम के रूप में धारण किया। अवधी (पूर्वी उत्तर प्रदेश की बोली) में लिखी गई तुलसीदास की रचना रामचरितमानस उनके भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति और साहित्यिक कृति, दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सूरदास श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनकी रचनाएँ सूरसागर, सूरसारवली और साहित्य लहरी में संग्रहित हैं एवं उनके भक्ति भाव को अभिव्यक्ति करती हैं। असम के शंकरदेव (परवर्ती 15वीं शताब्दी) जो इन्हीं के समकालीन थे, ने विष्णु की भक्ति पर बल दिया और असमिया भाषा में कविताएँ तथा नाटक लिखे। उन्होंने ही 'नामघर' (कविता पाठ और प्रार्थना गृह) स्थापित करने की पद्धति चलाई, जो आज तक चल रही है।

इस परंपरा में दादू दयाल, रविदास और मीराबाई जैसे संत भी शामिल थे। मीराबाई एक राजपूत राजकुमारी थीं, जिनका विवाह सोलहवीं शताब्दी में मेवाड़ के एक राजसी घराने में हुआ था। मीराबाई, रविदास, जो 'अस्पृश्य' जाति के माने जाते थे, की अनुयायी बन गईं। वे कृष्ण के प्रति समर्पित थीं और उन्होंने अपने गहरे भक्ति-भाव को कई भजनों में अभिव्यक्त किया है। उनके गीतों ने 'उच्च' जातियों की रीतियों-नियमों को खुली चुनौती दी तथा ये गीत राजस्थान व गुजरात के जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय हुए।



भक्ति संतों का कीर्तन

भक्ति संतों का कीर्तन, दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सूरदास श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उनकी रचनाएँ सूरसागर, सूरसारवली और साहित्य लहरी में संग्रहित हैं एवं उनके भक्ति भाव को अभिव्यक्ति करती हैं। असम के शंकरदेव (परवर्ती 15वीं शताब्दी) जो इन्हीं के समकालीन थे, ने विष्णु की भक्ति पर बल दिया और असमिया भाषा में कविताएँ तथा नाटक लिखे। उन्होंने ही 'नामघर' (कविता पाठ और प्रार्थना गृह) स्थापित करने की पद्धति चलाई, जो आज तक चल रही है।



मानचित्र - : मुख्य भक्ति संत तथा उनसे जुड़े क्षेत्र

NOTES

इन संतों में से अधिकांश का विशिष्ट अभिलक्षण यह है कि इनकी कृतियाँ क्षेत्रीय भाषाओं में रची गईं और उन्हें आसानी से गाया जा सकता था। इसीलिए ये बेहद लोकप्रिय हुईं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से चलती रहीं। प्रायः इन गीतों के प्रसारण में सर्वाधिक निर्धन, सर्वाधिक वंचित समुदाय और महिलाओं की भूमिका रही है। प्रसारण की इस प्रक्रिया में ये सभी लोग अकसर अपने अनुभव भी जोड़ देते थे। इस तरह आज मिलने वाले गीत, संतों की रचनाएँ तो हैं हीं, साथ-साथ उन पीढ़ियों के लोगों की रचनाएँ मानी जा सकती हैं, जो उन्हें गाया करते थे। वे हमारी जीती-जागती जन संस्कृति का अंग बन गई हैं।

कबीर

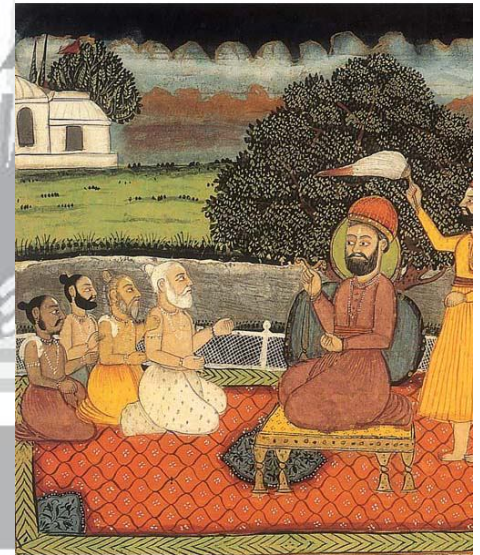
कबीर संभवतः पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में हुए थे। वे एक अत्यधिक प्रभावशाली संत थे। उनका पालन-पोषण बनारस में या उसके आस-पास के एक मुसलमान जुलाहा यानी बुनकर परिवार में हुआ था। उनके जीवन के बारे में हमारे पास बहुत कम विश्वसनीय जानकारी है। हमें उनके विचारों की जानकारी उनकी साखियों और पदों के विशाल संग्रह से मिलती है, जिनके बारे में यह कहा जाता है कि इनकी रचना तो कबीर ने की थी परंतु ये घुमंतू भजन-गायकों द्वारा गाए जाते थे। इनमें से कुछ भजन गुरु ग्रंथ साहब, पंचवाणी और बीजक में संग्रहित एवं सुरक्षित हैं।

कबीर के उपदेश प्रमुख धार्मिक परंपराओं की पूर्ण एवं प्रचंड अस्वीकृति पर आधारित थे। उनके उपदेशों में ब्राह्मणवादी हिंदू धर्म और इस्लाम दोनों की बाह्य आडंबरपूर्ण पूजा के सभी रूपों का मज़ाक उड़ाया गया है। उनके काव्य की भाषा बोलचाल की हिंदी थी, जो आम आदमियों द्वारा आसानी से समझी जा सकती थी। उन्होंने कभी-कभी रहस्यमयी भाषा का भी प्रयोग किया, जिसे समझना कठिन होता है।

कबीर, निराकार परमेश्वर में विश्वास रखते थे। उन्होंने यह उपदेश दिया कि भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष यानी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। हिंदू तथा मुसलमान दोनों लोग उनके अनुयायी हो गए।

बाबा गुरु नानक

कबीर की अपेक्षा बाबा गुरु नानक (1469-1539) के बारे में हम कहीं अधिक जानते हैं। तलवंडी (पाकिस्तान में ननकाना साहब) में जन्म लेने वाले बाबा गुरु नानक ने करतारपुर (रावी नदी के तट पर डेरा बाबा नानक) में एक केंद्र स्थापित करने से पहले कई यात्राएँ कीं। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए करतारपुर में एक नियमित उपासना पद्धति अपनाई, जिसके अंतर्गत उन्हीं के शब्दों (भजनों) को गाया जाता था। उनके अनुयायी अपने-अपने पहले धर्म या जाति अथवा लिंग-भेद को नज़रअंदाज़ करके एक सांझी रसोई में इकट्ठे खाते-पीते थे। इसे 'लंगर' कहा जाता था। बाबा गुरु नानक ने उपासना और धार्मिक कार्यों के लिए जो जगह नियुक्त की थी, उसे 'धर्मसाल' कहा गया। आज इसे गुरुद्वारा कहते हैं।

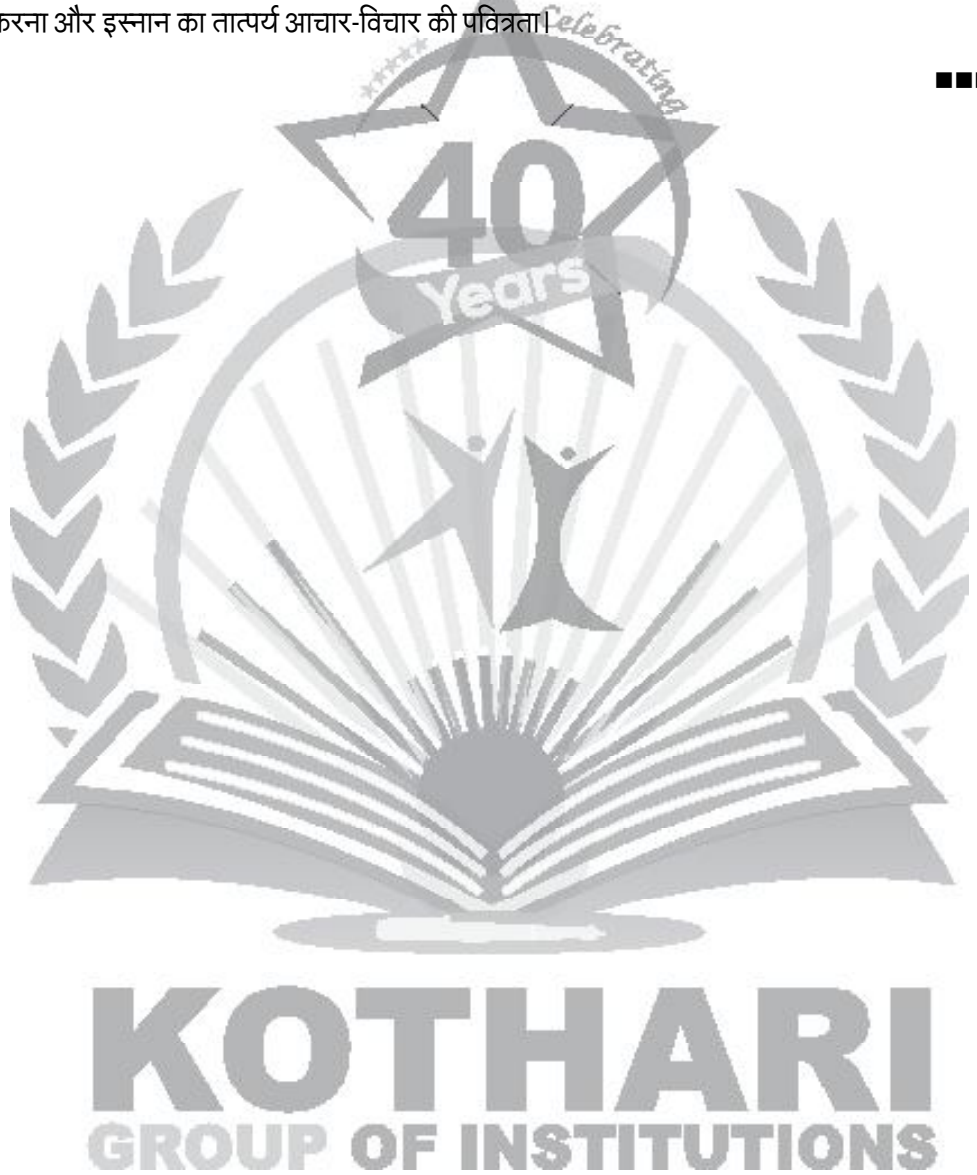


चित्र : धार्मिक महानुभावों से चर्चा करते बाबा गुरु नानक, जब वे युवक थे।

सोलहवीं शताब्दी में बाबा गुरु नानक के उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में उनके अनुयायियों की संख्या का विस्तार हुआ। ये अनुयायी कई जातियों के थे, परंतु इनमें व्यापारी, कृषक और शिल्पकार ज़्यादा थे। इसकी वजह यह हो सकती है कि बाबा गुरु नानक इस बात पर बल दिया करते थे कि उनके अनुयायी गृहस्थ हों और उपयोगी व उत्पादक पेशों से जुड़े हों। अनुयायियों से यह आशा भी की जाती थी कि वे नए समुदाय के सामान्य कोष में योगदान देंगे।

NOTES

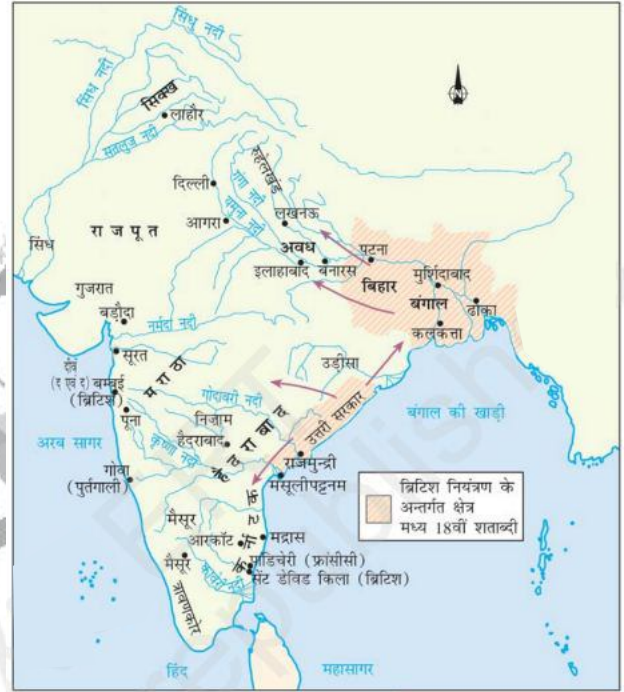
सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों ने सिक्ख आंदोलन के विकास को प्रभावित किया। शुरु से ही बाबा गुरु नानक के विचारों का सिक्ख आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक ईश्वर की उपासना के महत्त्व पर जोर दिया। उन्होंने आग्रह किया कि जाति, धर्म अथवा लिंग-भेद, मुक्ति प्राप्ति के लिए कोई मायने नहीं रखते हैं। उनके लिए मुक्ति किसी निष्क्रिय आनंद की स्थिति नहीं थी, बल्कि सक्रिय जीवन व्यतीत करने के साथ-साथ सामाजिक प्रतिबद्धता की निरंतर कोशिशों में ही निहित थी। अपने उपदेश के सार को व्यक्त करने के लिए उन्होंने तीन शब्दों का प्रयोग किया : नाम, दान और इस्नान (स्नान)। नाम से उनका तात्पर्य, सही उपासना से था। दान का तात्पर्य था, दूसरों का भला करना और इस्नान का तात्पर्य आचार-विचार की पवित्रता।



इकाई-18 : अठारहवीं शताब्दी में नए राजनीतिक गठन

नए राज्यों का उदय

मुगल सम्राटों की सत्ता के पतन के साथ-साथ बड़े प्रांतों के सूबेदारों और बड़े ज़मींदारों ने उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में अपनी शक्ति और प्रबल बना ली। अठारहवीं शताब्दी के दौरान मुगल साम्राज्य धीरे-धीरे कई स्वतंत्र क्षेत्रीय राज्यों में बिखर गया। मौटे तौर पर 18वीं सदी के राज्यों को तीन परस्परव्यापी समूहों में बाँटा जा सकता है- (1) अवध, बंगाल व हैदराबाद जैसे वे राज्य जो पहले मुगल प्रांत थे। हालाँकि इन राज्यों के शासक अति शक्तिशाली थे और काफी हद तक स्वतंत्र थे लेकिन उन्होंने मुगल बादशाह से औपचारिक तौर पर अपने संबंध नहीं तोड़े; (2) ऐसे राज्य जो मुगलों के पुराने शासनकाल में वतन जागीरों के रूप में काफी स्वतंत्र थे। इनमें कई राजपूत प्रदेश भी शामिल थे; तथा (3) तीसरी श्रेणी में मराठों, सिक्खों तथा जाटों के राज्य आते हैं। ये विभिन्न आकार के थे और इन्होंने कड़े और लंबे सशस्त्र संघर्ष के बाद मुगलों से स्वतंत्रता छीनकर ली थी।



मानचित्र अठारहवीं शताब्दी के मध्य ब्रिटिश क्षेत्र

हैदराबाद

निज़ाम-उल-मुल्क आसफ जाह (1724-1748), जिसने हैदराबाद राज्य की स्थापना की थी; मुगल बादशाह फर्रुखसियर के दरबार का एक अत्यंत शक्तिशाली सदस्य था। उसे सर्वप्रथम अवध की सूबेदारी सौंपी गई थी, और बाद में उसे दक्कन का कार्यभार दे दिया गया था। 1720-22 के मध्य ही दक्कन प्रांतों का सूबेदार होने की वजह से आसफ जाह के पास पहले से ही राजनीतिक और वित्तीय प्रशासन का पूरा नियंत्रण था। दक्कन में होने वाले उपद्रवों और मुगल दरबार में चल रही प्रतिस्पर्धा का फायदा उठाकर उसने सत्ता हथियाई तथा उस क्षेत्र का वास्तविक शासक बन गया।

आसफजाह अपने लिए कुशल सैनिकों तथा प्रशासकों को उत्तरी भारत से लाया था और वे दक्षिण में नए अवसर पाकर प्रसन्न थे। उसने मनसबदार नियुक्त किए और इन्हें जागीरें प्रदान कीं। हालाँकि वह अभी भी मुगल सम्राट का सेवक था, फिर भी वह काफी आजादी से शासन चलाता था। न तो वह दिल्ली से कोई निर्देश लेता था और न ही दिल्ली उसके काम-काज में कोई हस्तक्षेप करती थी। मुगल बादशाह तो केवल निज़ाम-उल-मुल्क आसफ जाह द्वारा पहले से लिए गए निर्णयों की पुष्टि कर दिया करते थे।

हैदराबाद राज्य पश्चिम की ओर मराठों के विरुद्ध और पठारी क्षेत्र के स्वतंत्र तेलुगु सेनानायकों के साथ युद्ध करने में सदा संलग्न रहता था। पूर्व दिशा में निज़ाम-उल-मुल्क आसफ जाह कोरोमंडल तट पर स्थित वस्त्रोत्पादक धनसंपन्न क्षेत्र पर अपना नियंत्रण प्राप्त करने की महत्वाकाँक्षा रखता था, पर उनकी इस महत्वाकाँक्षा पर उस क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति की उपस्थिति के कारण रोक लग गई।

NOTES

अवध

बुरहान-उल-मुल्क सआदत खान को 1722 में अवध का सूबेदार नियुक्त किया गया था। मुगल साम्राज्य का विघटन होने पर जो राज्य बने, उनमें यह राज्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण राज्यों में से एक था। अवध एक समृद्धिशाली प्रदेश था, जो गंगानदी के उपजाऊ मैदान में फैला हुआ था और उत्तरी भारत तथा बंगाल के बीच व्यापार का मुख्य मार्ग उसी में से होकर गुजरता था। बुरहान-उल-मुल्क ने भी अवध की सूबेदारी, दीवानी और फौजदारी एक साथ अपने हाथ में ले ली और सूबे के राजनीतिक, वित्तीय और सैनिक मामलों का एकमात्र कर्ताधर्ता बन गया।

बुरहान-उल-मुल्क ने अवध क्षेत्र में मुगल प्रभाव को कम करने की कोशिशों के चलते मुगलों द्वारा नियुक्त अधिकारियों (जागीरदारों) की संख्या में कटौती कर दी। उसने जागीरों के आकार में भी कटौती की और रिक्त स्थानों पर अपने निष्ठावान सेवकों को नियुक्त किया। धोखाधड़ी को रोकने के लिए जागीर अधिकारियों के खातों व लेखों की जाँच की गई और नवाब के दरबार द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा सभी जिलों के राजस्व का फिर से निर्धारण किया गया। उसने अनेक राजपूत जमींदारियों और रुहेलखंड के अफगानों की उपजाऊ कृषि भूमियों को अपने राज्य में मिला लिया।

बंगाल

मुर्शीद कुली खान के नेतृत्व में बंगाल धीरे-धीरे मुगल नियंत्रण से अलग हो गया। मुर्शीद कुली खान बंगाल के नायब थे, यानी कि प्रांत के सूबेदार के प्रतिनियुक्त थे। यद्यपि मुर्शीद कुली खान औपचारिक रूप से सूबेदार कभी नहीं बना। उसने बहुत जल्द सूबेदार के पद से जुड़ी हुई सत्ता अपने हाथ में ले ली। हैदराबाद और अवध के शासकों की तरह उसने भी राज्य के राजस्व प्रशासन पर अपना नियंत्रण जमाया। बंगाल में मुगल प्रभाव को कम करने के लिए उसने बंगाल के राजस्व का बड़े पैमाने पर पुनर्निर्धारण करने का आदेश दिया।

राजपूतों की वतन जागीरी

बहुत-से राजपूत घराने विशेष रूप से अम्बर और जोधपुर के राजघराने मुगल व्यवस्था में विशिष्टता के साथ सेवारत रहे थे। बदले में उन्हें अपनी वतन जागीरों पर पर्याप्त स्वायत्तता का आनंद लेने की अनुमति मिली हुई थी। अब अठारहवीं शताब्दी में इन शासकों ने अपने आस-पास के इलाकों पर अपने नियंत्रण का विस्तार करने के लिए अपने हाथ-पाँव मारने शुरू किए। जोधपुर के राजा अजीत सिंह ने भी मुगल दरबार की गुटीय राजनीति में अपने पैर फँसा दिए।

इन प्रभावशाली राजपूत घरानों ने गुजरात और मालवा के लाभदायक सूबों की सूबेदारी का दावा किया। जोधपुर के राजा अजीत सिंह को गुजरात की सूबेदारी और अम्बर के सवाई राजा जयसिंह को मालवा की सूबेदारी मिल गई। बादशाह जहांगीर शाह ने 1713 में इन राजाओं के इन पदों का नवीकरण कर दिया। उन्होंने अपने वतनों के पास-पड़ोस के शाही इलाकों के कुछ हिस्सों पर कब्जा करने की भी कोशिशें की। जोधपुर राजघराने ने नागौर को जीत लिया और अपने राज्य में मिला लिया। दूसरी ओर अम्बर ने भी बूंदी के बड़े-बड़े हिस्सों पर अपना कब्जा कर लिया। सवाई राजा जयसिंह ने जयपुर में अपनी नई राजधानी स्थापित की और उसे 1722 में आगरा की सूबेदारी दे दी गई। 1740 के दशक से राजस्थान में मराठों के अभियानों ने इन रजवाड़ों पर भारी दबाव डालना शुरू कर दिया, जिससे उनका अपना विस्तार आगे होने से रुक गया।

NOTES

सिक्ख

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान सिक्ख एक राजनैतिक समुदाय के रूप में गठित हो गए। इससे पंजाब के क्षेत्रीय राज्य-निर्माण को बढ़ावा मिला। गुरु गोबिंद सिंह ने 1699 में खालसा पंथ की स्थापना से पूर्व और उसके पश्चात् राजपूत व मुगल शासकों के खिलाफ कई लड़ाइयाँ लड़ीं। 1708 में गुरु गोबिंद सिंह की मृत्यु के बाद बंदा बहादुर के नेतृत्व में 'खालसा' ने मुगल सत्ता के खिलाफ विद्रोह किए। उन्होंने बाबा गुरु नानक और गुरु गोबिंद सिंह के नामों वाले सिक्के गढ़कर अपने शासन को सार्वभौम बताया। सतलुज और यमुना नदियों के बीच के क्षेत्र में उन्होंने अपने प्रशासन की स्थापना की। 1715 में बंदा बहादुर को बंदी बना लिया गया और उसे 1716 में मार दिया गया।

अठारहवीं शताब्दी में कई योग्य नेताओं के नेतृत्व में सिक्खों ने अपने-आपको पहले 'जत्थों' में, और बाद में 'मिस्त्रों' में संगठित किया। इन जत्थों और मिस्त्रों की संयुक्त सेनाएँ 'दल खालसा' कहलाती थीं। उन दिनों दल खालसा, बैसाखी और दीवाली के पर्वों पर अमृतसर में मिलता था। इन बैठकों में वे सामूहिक निर्णय लिए जाते थे, जिन्हें गुरमत्ता (गुरु के प्रस्ताव) कहा जाता था। सिक्खों ने राखी व्यवस्था स्थापित की, जिसके अंतर्गत किसानों से उसकी उपज का 20 प्रतिशत कर (टैक्स) के रूप में लेकर बदले में उन्हें संरक्षण प्रदान किया जाता था।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में सिक्ख इलाके सिंधु से यमुना तक फैले हुए थे, यद्यपि ये विभिन्न शासकों में बँटे हुए थे। इनमें से एक शासक महाराजा रणजीत सिंह ने विभिन्न सिक्ख समूहों में फिर से एकता कायम करके 1799 में लाहौर को अपनी राजधानी बनाया।

मराठा

मराठा राज्य एक अन्य शक्तिशाली क्षेत्रीय राज्य था, जो मुगल शासन का लगातार विरोध करके उत्पन्न हुआ था। शिवाजी (1627-1680) ने शक्तिशाली योद्धा परिवारों (देशमुखों) की सहायता से एक स्थायी राज्य की स्थापना की। अत्यंत गतिशील कृषक-पशुचारक (कुनबी) मराठों की सेना के मुख्य आधार बन गए। शिवाजी ने प्रायद्वीप में मुगलों को चुनौती देने के लिए इस सैन्य-बल का प्रयोग किया। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात्, मराठा राज्य में प्रभावी शक्ति, चिंतपावन ब्राह्मणों के एक परिवार के हाथ में रही, जो शिवाजी के उत्तराधिकारियों के शासनकाल में 'पेशवा' (प्रधान मंत्री) के रूप में अपनी सेवाएँ देते रहे। पुणे मराठा राज्य की राजधानी बन गया।

पेशवाओं की देखरेख में मराठों ने एक अत्यंत सफल सैन्य संगठन का विकास कर लिया। उनकी सफलता का रहस्य यह था कि वे मुगलों के किलाबंद इलाकों से टक्कर न लेते हुए, उनके पास से चुपचाप निकलकर शहरों-कस्बों पर हमला बोलते थे और मुगल सेना से ऐसे मैदानी इलाकों में मुठभेड़ लेते थे; जहाँ रसद पाने और कुमक आने के रास्ते आसानी से रोके जा सकते थे।

1720 से 1761 के बीच, मराठा साम्राज्य का काफ़ी विस्तार हुआ। उसने शनैः-शनैः और काफ़ी सफलतापूर्वक मुगल साम्राज्य की सत्ता को क्षति पहुँचाई 1720 के दशक तक मालवा और गुजरात मुगलों से छीन लिए गए। 1730 के दशक तक, मराठा नरेश को समस्त दक्कन प्रायद्वीप के अधिपति के रूप में मान्यता मिल गई और साथ ही इस क्षेत्र पर चौथ और सरदेशमुखी कर वसूलने का अधिकार भी मिल गया।

1737 में दिल्ली पर धावा बोलने के बाद मराठा प्रभुत्व की सीमाएँ तेज़ी से बढ़ीं। वे उत्तर में राजस्थान और पंजाब, पूर्व में बंगाल और उड़ीसा तथा दक्षिण में कर्नाटक और तमिल एवं तेलुगु प्रदेशों तक फैल गईं। इन क्षेत्रों को औपचारिक रूप से मराठा साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया, मगर मराठा प्रभुसत्ता को स्वीकार करने के तरीके के रूप में उनसे भेंट की रकम ली जाने लगी। साम्राज्य के इस विस्तार से उन्हें

चौथ जमींदारों द्वारा वसूले जाने वाले भू-राजस्व का 25 प्रतिशत। दक्कन में इनको मराठा वसूलते थे।

सरदेशमुखी दक्कन में मुख्य राजस्व संग्रहकर्ता को दिए जाने वाले भू-राजस्व का 9-10 प्रतिशत हिस्सा।

NOTES

संसाधनों का भंडार तो मिल गया, मगर उसके लिए उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी। मराठों के सैन्य अभियानों के कारण अन्य शासक भी उनके खिलाफ हो गए। परिणामस्वरूप मराठों को 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई में अन्य शासकों से कोई सहायता नहीं मिली।

जाट

अन्य राज्यों की तरह जाटों ने भी सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में अपनी सत्ता सुदृढ़ की। अपने नेता चूड़ामन के नेतृत्व में उन्होंने दिल्ली के पश्चिम में स्थित क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण कर लिया। 1680 के दशक तक आते-आते उनका प्रभुत्व दिल्ली और आगरा के दो शाही शहरों के बीच के क्षेत्र पर होना शुरू हो गया। वस्तुतः कुछ अर्से के लिए वे आगरा शहर के अभिरक्षक ही बन गए।

जाट, समृद्ध कृषक थे और उनके प्रभुत्व-क्षेत्र में पानीपत तथा बल्लभगढ़ जैसे शहर महत्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र बन गए। सूरजमल के राज में भरतपुर शक्तिशाली राज्य के रूप में उभरा। 1739 में जब नादिरशाह ने दिल्ली पर हमला बोलकर उसे लूटा, तो दिल्ली के कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भरतपुर में शरण ली।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-19 : आधुनिक भारत: कब, कैसे और कहाँ

आधुनिक भारतीय इतिहास हम किस तरह जानते हैं?

आधुनिक भारतीय इतिहास के पिछले 250 साल का इतिहास लिखने के लिए इतिहासकार कौन से स्रोतों का इस्तेमाल करते हैं?

प्रशासन अभिलेख तैयार करता है

अंग्रेजी शासन द्वारा तैयार किए गए सरकारी रिकॉर्ड इतिहासकारों का एक महत्वपूर्ण साधन होते हैं। अंग्रेजों की मान्यता थी कि चीजों को लिखना बहुत महत्वपूर्ण होता है। उनके लिए हर निर्देश, हर योजना, नीतिगत फैसले, सहमति, जाँच को साफ़-साफ़ लिखना जरूरी था। ऐसा करने के बाद चीजों का अच्छी तरह अध्ययन किया जा सकता था और उन पर वाद-विवाद किया जा सकता है। इस समझदारी के चलते ज्ञापन, टिप्पणी और प्रतिवेदन पर आधारित शासन की संस्कृति पैदा हुई।

अंग्रेजों को यह भी लगता था कि तमाम अहम दस्तावेजों और पत्रों को सँभालकर रखना जरूरी है। लिहाजा, उन्होंने सभी शासकीय संस्थानों में अभिलेख कक्ष भी बनवा दिए। तहसील के दफ्तर, कलेक्टोरेट, कमिश्नर के दफ्तर, प्रांतीय सचिवालय, कचहरी-सबके अपने रिकॉर्ड रूम होते थे। महत्वपूर्ण दस्तावेजों को बचाकर रखने के लिए अभिलेखागार (आर्काइव) और संग्रहालय जैसे संस्थान भी बनाए गए।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में प्रशासन की एक शाखा से दूसरी शाखा के पास भेजे गए पत्रों और ज्ञापनों को आप आज भी अभिलेखागारों में देख सकते हैं। वहाँ आप जिला अधिकारियों द्वारा तैयार किए गए नोट्स और रिपोर्ट पढ़ सकते हैं या ऊपर बैठे अफसरों द्वारा प्रांतीय अधिकारियों को भेजे गए निर्देश और सुझाव देख सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के शुरुआती सालों में इन दस्तावेजों की सावधानीपूर्वक नकले बनाई जाती थीं।



चित्र- 4. भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार 1920 के दशक में बनाया गया।

सर्वेक्षण का बढ़ता महत्व

औपनिवेशिक शासन के दौरान सर्वेक्षण का चलन भी महत्वपूर्ण होता गया। अंग्रेजों का विश्वास था कि किसी देश पर अच्छी तरह शासन चलाने के लिए उसको सही ढंग से जानना जरूरी होता है।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक पूरे देश का नक्शा तैयार करने के लिए बड़े-बड़े सर्वेक्षण किए जाने लगे। गांवों में राजस्व सर्वेक्षण किए गए। इन सर्वेक्षणों में धरती की सतह, मिट्टी की गुणवत्ता, वहाँ मिलने वाले पेड़-पौधों और जीव-जंतुओं तथा स्थानीय इतिहासों व फसलों का पता लगाया जाता था अंग्रेजों की राय में किसी इलाके का शासन चलाने के लिए इन सारी बातों को जानना जरूरी था। उन्नीसवीं सदी के आखिर से हर दस साल में जनगणना भी की जाने लगी। जनगणना के ज़रिए भारत के सभी प्रांतों में रहने वाले लोगों की संख्या, उनकी जाति, इलाके और व्यवसाय के बारे में जानकारी को इकट्ठा किया जाता था। इसके अलावा वानस्पतिक सर्वेक्षण, प्राणि वैज्ञानिक सर्वेक्षण, पुरातात्विक सर्वेक्षण, मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण, वन सर्वेक्षण आदि कई दूसरे सर्वेक्षण भी किए जाते थे।

NOTES

इकाई-20 : व्यापार से साम्राज्य तक ब्रिटिश कंपनी की सत्ता

मुगल बादशाहों में औरंगजेब आखिरी शक्तिशाली बादशाह थे। उन्होंने वर्तमान भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था। 1707 में उनकी मृत्यु के बाद बहुत सारे मुगल सूबेदार और बड़े-बड़े जमींदार अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उन्होंने अपनी क्षेत्रीय रियासतें कायम कर ली थीं। जैसे-जैसे विभिन्न भागों में ताकतवर क्षेत्रीय रियासतें सामने आने लगीं, दिल्ली अधिक दिनों तक प्रभावी केन्द्र के रूप में नहीं रह सकी।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध तक राजनीतिक क्षितिज पर अंग्रेजों के रूप में एक नयी ताकत उभरने लगी थी। अंग्रेज पहले-पहल एक छोटी-सी व्यापारिक कंपनी के रूप में भारत आए थे और यहाँ के इलाकों पर कब्जे में उनकी ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी? तो फिर ऐसा कैसे हुआ कि एक दिन वे इस विशाल साम्राज्य के स्वामी बन बैठे? इस संबंध में हम आगे जानेंगे।



चित्र 2. अठारहवीं सदी में भारत तक आने वाले रास्ते।

पूर्व में ईस्ट इंडिया कंपनी का आना

सन् 1600 में ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ प्रथम से चार्टर अर्थात इजाजतनामा हासिल कर लिया जिससे कंपनी को पूरब से व्यापार करने का एकाधिकार मिल गया। इस इजाजतनामे का मतलब यह था कि इंग्लैंड की कोई व्यापारिक कंपनी इस इलाके में ईस्ट इंडिया कंपनी से होड़ नहीं कर सकती थी। इस चार्टर के सहारे कंपनी समुद्र पार जाकर नए इलाकों को खँगाल सकती थी, वहाँ से सस्ती कीमत पर चीज़ें खरीद कर उन्हें यूरोप में ऊँची कीमत पर बेच सकती थी। कंपनी को दूसरी अंग्रेज व्यापारिक कंपनियों से प्रतिस्पर्धा का कोई भय नहीं था। उस जमाने में वाणिज्यिक कंपनियाँ मोटे तौर पर प्रतिस्पर्धा से बचकर ही मुनाफा कमा सकती थी। अगर कोई प्रतिस्पर्धा न हो तभी वे सस्ती चीज़े खरीदकर उन्हें ज्यादा कीमत पर बेच सकती थी।

लेकिन यह शाही दस्तावेज दूसरी यूरोपीय ताकतों को पूरब के बाजारों में आने से नहीं रोक सकता था। जब तक इंग्लैंड के जहाज अफ्रीका के पश्चिम तट को छूते हुए केप ऑफ गुड होप का चक्कर लगाकर हिंद महासागर पार करते तब तक पुर्तगालियों ने भारत के पश्चिमी तट पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा दी थी। वे गोवा में अपना ठिकाना बना चुके थे। पुर्तगाल के खोजी यात्री वास्को द गामा ने ही 1498 में पहली बार भारत तक पहुँचने के इस समुद्री मार्ग का पता लगाया था। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत तक डच भी हिंद महासागर में व्यापार की संभावनाएँ तलाशने लगे थे। कुछ ही समय बाद फ्रांसीसी व्यापारी भी सामने आ गए।

समस्या यह थी कि सारी कंपनियाँ एक जैसी चीज़ें ही खरीदना चाहती थी। यूरोप के बाजारों में भारत के बने बारीक सूती कपड़े और रेशम की जबरदस्त माँग थी। इनके अलावा काली मिर्च, लौंग, इलायची और दालचीनी की भी जबरदस्त माँग रहती थी। यूरोपीय कंपनियों के बीच इस बढ़ती प्रतिस्पर्धा

NOTES

से भारतीय बाजारों में इन चीज़ों की कीमतें बढ़ने लगे और उनसे मिलने वाला मुनाफा गिरने लगा। अब इन व्यापारिक कंपनियों के फलने-फूलने का यही एक रास्ता था कि वे अपनी प्रतिस्पर्धी कंपनियों को खत्म कर दे। लिहाजा बाजारों पर कब्जे की इस होड़ ने व्यापारिक कंपनियों के बीच लड़ाइयों की शुरुआत कर दी। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में जब भी मौका मिलता कोई-सी एक कंपनी किसी दूसरी कंपनी के जहाज डूबो देती, रास्ते में रुकावटें खड़ी कर देती और माल से लदे जहाजों को आगे बढ़ने से रोक देती। यह व्यापार हथियारों की मदद से चल रहा था और व्यापारिक चौकियों को किलेबंदी के जरिए सुरक्षित रखा जाता था।

अपनी बस्तियों को किलेबंद करने और व्यापार में मुनाफा कमाने की इन कोशिशों के कारण स्थानीय शासकों से भी टकराव होने लगे। इस प्रकार, व्यापार और राजनीति को एक-दूसरे से अलग रखना कंपनी के लिए मुश्किल होता जा रहा था।

ईस्ट इंडिया कंपनी बंगाल में व्यापार शुरू करती है

पहली इंग्लिश फैक्टरी 1651 में हुगली नदी के किनारे शुरू हुई। कंपनी के व्यापारी यहीं से अपना काम चलाते थे। इन व्यापारियों को उस जमाने में "फैक्टर" कहा जाता था। इस फैक्टरी में वेयरहाउस था जहाँ निर्यात होने वाली चीज़ों को जमा किया जाता था। यहीं पर उसके दफ्तर थे जिनमें कंपनी के अफसर बैठते थे। जैसे-जैसे व्यापार फैला कंपनी ने सौदागरों और व्यापारियों को फैक्टरी के आस-पास आकर बसने के लिए पेरित किया 1696 तक कंपनी ने इस आबादी के चारों तरफ एक किला बनाना शुरू कर दिया था। दो साल बाद उसने मुगल अफसरों को रिश्वत देकर तीन गांवों की जमींदारी भी खरीद ली। इनमें से एक गाँव कालीकाता था जो बाद में कलकत्ता बना। अब इसे कोलकाता कहा जाता है। कंपनी ने मुगल सम्राट औरंगजेब को इस बात के लिए भी तैयार कर लिया कि वह कंपनी को बिना शुल्क चुकाए व्यापार करने का फ़रमान (फ़रमान- एक शाही आदेश) जारी कर दे।

कंपनी ज़्यादा से ज़्यादा रियासतें हासिल करने और पहले से मौजूद अधिकारों का ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठाने में लगी हुई थी। उदाहरण के लिए, औरंगजेब के फरमान से केवल कंपनी को ही शुल्क मुक्त व्यापार का अधिकार मिला था। कंपनी के जो अफसर निजी तौर पर व्यापार चलाते उन्हें यह छूट नहीं थी। लेकिन उन्होंने भी शुल्क चुकाने से इनकार कर दिया। इससे बंगाल में राजस्व वसूली बहुत कम हो गई। ऐसे में भला बंगाल के नवाब मुर्शिद कुली खान विरोध क्यों न करते?

व्यापार से युद्धों तक

अठारहवीं सदी की शुरुआत में कंपनी और बंगाल के नवाबों का टकराव काफी बढ़ गया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद बंगाल के नवाब अपनी ताकत दिखाने लगे थे। उस समय दूसरी क्षेत्रीय ताकतों की स्थिति भी ऐसी ही थी। मुर्शिद कुली खान के बाद अली वर्दी खान और उसके बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। ये सभी शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने कंपनी को रियायतें देने से मना कर दिया। व्यापार का अधिकार देने के बदले कंपनी से नज़राने माँगे, उसे सिक्के ढालने का अधिकार नहीं दिया, और उसकी किलेबंदी को बढ़ाने से रोक दिया। कंपनी पर धोखाधड़ी का आरोप लगाते हुए उन्होंने दलील दी कि उसकी वजह से बंगाल सरकार की राजस्व वसूली कम होती जा रही है और नवाबों की ताकत कमज़ोर पड़ रही है। कंपनी टैक्स चुकाने को तैयार नहीं थी, उसके अफसरों ने अपमानजनक चिट्ठियाँ लिखीं और नवाबों व उनके अधिकारियों को अपमानित करने का प्रयास किया।

कंपनी का कहना था कि स्थानीय अधिकारियों की बेतुकी माँगों से कंपनी का व्यापार तबाह हो रहा है। व्यापार तभी फल-फूल सकता है जब सरकार शुल्क हटा ले। कंपनी को इस बात का भी यकीन था कि अपना व्यापार फैलाने के लिए उसे अपनी आबादी बढ़ानी होगी। गाँव खरीदने होंगे और किलों का पुननिर्माण करना होगा।

ये टकराव दिनोदिन गंभीर होते हुए अन्ततः इन टकरावों की परिणति प्लासी के प्रसिद्ध युद्ध के रूप में हुई।

प्लासी का युद्ध

1756 में अली वर्दी खान की मृत्यु के बाद सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब बने। कंपनी को सिराजुद्दौला की ताकत से काफी भय था। सिराजुद्दौला की जगह कंपनी एक ऐसा कठपुतली नवाब चाहती थी जो उसे व्यापारिक रियायतें और अन्य सुविधाएं आसानी से देने में आनाकानी न करे। कंपनी ने प्रयास किया कि सिराजुद्दौला के प्रतिद्वंद्वियों में से किसी को नवाब बना दिया जाए। कंपनी को कामयाबी नहीं मिली। जवाब में सिराजुद्दौला ने हुक्म दिया कि कंपनी उनके राज्य के राजनीतिक मामलों में टांग अड़ाना बंद कर दे, किलेबंदी रोके और बाकायदा राजस्व चुकाए। जब दोनों पक्ष पीछे हटने को तैयार नहीं हुए तो अपने 30,000 सिपाहियों के साथ नवाब की फौजों ने कंपनी के अफसरों को गिरफ्तार कर लिया, गोदाम पर ताला डाल दिया, अंग्रेजों के हथियार छीन लिए और अंग्रेज जहाजों को घेरे में ले लिया। इसके बाद नवाब ने कंपनी के कलकत्ता स्थित किले पर कब्जे के लिए उधर का रुख किया।

कलकत्ता के हाथ से निकल जाने की खबर सुनने पर मद्रास में तैनात कंपनी के अफसरों ने भी रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में सेनाओं को रवाना कर दिया। इस सेना को नौसैनिक बेड़े की मदद भी मिल रही थी इसके बाद नवाब के साथ लंबे समय तक सौदेबाजी चली। आखिरकार 1757 में रॉबर्ट क्लाइव ने प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला के खिलाफ कंपनी की सेना का नेतृत्व किया। नवाब सिराजुद्दौला की हार का एक बड़ा कारण उसके सेनापतियों में से एक सेनापति मीर जाफर की कारगुजारियाँ भी थी। मीर जाफर की टुकड़ियों ने इस युद्ध में हिस्सा नहीं लिया। रॉबर्ट क्लाइव ने यह कहकर उसे अपने साथ मिला दिया था कि सिराजुद्दौला को हटा कर मीर जाफर को नवाब बना दिया जाएगा।

प्लासी की जंग इसलिए महत्वपूर्ण मानी जाती है क्योंकि भारत में यह कंपनी की पहली बड़ी जीत थी।

प्लासी की जंग के बाद सिराजुद्दौला को मार दिया गया और मीर जाफर नवाब बना। कंपनी अभी भी शासन की जिम्मेदारी सँभालने को तैयार नहीं थी। उसका मूल उद्देश्य तो व्यापार को फैलाना था। अगर यह काम स्थानीय शासकों की मदद से बिना लड़ाई लड़े ही किया जा सकता था तो किसी राज्य को सीधे अपने कब्जे में लेने की क्या जरूरत थी।

जल्दी ही कंपनी को एहसास होने लगा कि यह रास्ता भी आसान नहीं है। कठपुतली नवाब भी हमेशा कंपनी के इशारों पर नहीं चलते थे। आखिरकर उन्हें भी तो अपनी प्रजा की नजर में सम्मान और संप्रभुता का दिखावा करना पड़ता था।

तो फिर कंपनी क्या करती? जब मीर जाफर ने कंपनी का विरोध किया तो कंपनी ने उसे हटाकर मीर कासिम को नवाब बना दिया जब मीर कासिम परेशान करने लगे तो बक्सर की लड़ाई (1764) में उसको भी हराना पड़ा। उसे बंगाल से बाहर कर दिया गया और मीर जाफर को दोबारा नवाब बनाया गया अब नवाब को हर महीने पाँच लाख रुपए कंपनी को चुकाने थे। कंपनी अपने सैनिक खर्चों से निपटने, व्यापारिक जरूरतों तथा अन्य खर्चों को पूरा करने के लिए और पैसा चाहती थी। कंपनी और ज्यादा इलाके तथा और ज्यादा कमाई चाहती थी। 1765 में जब मीर जाफर की मृत्यु हुई तब तक कंपनी के इरादे बदल चुके थे। कठपुतली नवाबों के साथ अपने खराब अनुभवों को देखते हुए क्लाइव ने ऐलान किया अब "हमें खुद ही नवाब बनना पड़ेगा।"

आखिरकार 1765 में मुगल सम्राट ने कंपनी को ही बंगाल प्रांत का दीवान नियुक्त कर दिया। दीवानी मिलने के कारण कंपनी को बंगाल के विशाल राजस्व संसाधनों पर नियंत्रण मिल गया था। इस तरह कंपनी की एक पुरानी समस्या हल हो गई थी। लेकिन उसे भारत में ज्यादातर चीज़े ब्रिटेन से लाए गए सोने और

NOTES

चाँदी के बदले में खरीदनी पढ़ती थी। इसकी वजह ये थी कि उस समय ब्रिटेन के पास भारत में बेचने के लिए कोई चीज़ नहीं थी। प्लासी की जंग के बाद ब्रिटेन से सोने की निकासी कम होने लगी और बंगाल की दीवानी मिलने के बाद तो ब्रिटेन से सोना लाने की जरूरत ही नहीं रही। अब भारत में होने वाली आमदनी के सहारे ही कंपनी अपने खर्च चला सकती थी। इस कमाई से कंपनी भारत में सूती और रेशमी कपड़ा खरीद सकती थी, अपनी फौजों को सँभाल सकती थी और कलकत्ते के किलों और दफ्तरों के निर्माण की लागत उठा सकती थी।

कंपनी का फैलता शासन

यदि हम 1757 से 1857 के बीच ईस्ट इंडिया कंपनी के द्वारा भारतीय राज्यों पर कब्जे की प्रक्रिया को देखें तो कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। किसी अनजान इलाके में कंपनी ने सीधे सैनिक हमला प्रायः नहीं किया। उसने किसी भी भारतीय रियासत का अधिग्रहण करने से पहले विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और कूटनीतिक साधनों का इस्तेमाल किया।

बक्सर की लड़ाई (1764) के बाद कंपनी ने भारतीय रियासतों में रेजिडेंट तैनात कर दिये। ये कंपनी के राजनीतिक या व्यावसायिक प्रतिनिधि होते थे। उनका काम कंपनी के हितों की रक्षा करना और उन्हें आगे बढ़ाना था। रेजिडेंट के माध्यम से कंपनी के अधिकारी भारतीय राज्यों के भीतरी मामलों में भी दखल देने लगे थे। अगल राजा कौन होगा, किस पद पर किसको बिठाया जाएगा, इस तरह की चीज़ें भी कंपनी के अफ़सर ही तय करना चाहते थे। कई बार कंपनी ने रियासतों पर "सहायक संधि" भी थोप दी। जो रियासत इस बंदोबस्त को मान लेती थी उसे अपनी स्वतंत्र सेनाएँ रखने का अधिकार नहीं रहता था। उसे कंपनी की तरफ से सुरक्षा मिलती थी और "सहायक सेना" के रखरखाव के लिए वह कंपनी को पैसा देती थी। अगर भारतीय शासक रकम अदा करने में चूक जाते थे तो जुर्माने के तौर पर उसका इलाका कंपनी अपने कब्जे में ले लेती थी। उदाहरण के लिए, जब रिचर्ड वेल्लेजली गवर्नर-जनरल (1798-1805) था, उस समय अवध के नवाब को 1801 में अपना आधा इलाका कंपनी को सौंपने के लिए मजबूर किया गया क्योंकि नवाब "सहायक सेना" के लिए पैसा अदा करने में चूक गए थे। इसी आधार पर हैदराबाद के भी कई इलाके छीन लिए गए।

टीपू सुल्तान - "शेर-ए-मैसूर"

जब कंपनी को अपने राजनीतिक और आर्थिक हितों पर खतरा दिखाई दिया तो कंपनी ने प्रत्यक्ष सैनिक टकराव का रास्ता भी अपनाया। दक्षिण भारतीय राज्य मैसूर के उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है।

हैदर अली (शासन काल 1761 से 1782) और उनके विख्यात पुत्र टीपू सुल्तान (शासन काल 1782 से 1799) जैसे शक्तिशाली शासकों के नेतृत्व में मैसूर काफी ताकतवर हो चुका था। मालाबार तट पर होने वाला व्यापार मैसूर रियासत के नियंत्रण में था जहाँ से कंपनी काली मिर्च और इलायची खरीदती थी। 1785 में टीपू सुल्तान ने अपनी रियासत में पड़ने वाले बंदरगाहों से चंदन की लकड़ी, काली मिर्च और इलायची का निर्यात रोक दिया। सुल्तान ने स्थानीय सौदागरों को भी कंपनी के साथ कारोबार करने से रोक दिया था। टीपू सुल्तान ने भारत में रहने वाले फ्रांसीसी व्यापारियों से घनिष्ठ संबंध विकसित किए और उनकी मदद से अपनी सेना का आधुनिकीकरण किया।



चित्र : टीपू सुल्तान।

NOTES

सुल्तान के इन कदमों से अंग्रेज आग-बबूला हो गए। उन्हें हैदर अली और टीपू सुल्तान बहुत महत्वाकांक्षी, घमण्डी और खतरनाक दिखाई देते थे। अंग्रेजों को लगता था कि ऐसे राजाओं को नियंत्रित करना और कुचलना जरूरी है। फलस्वरूप, मैसूर के साथ अंग्रेजों की चार बार जंग हुई (1767-69, 1780-84, 1790-92 और 1799)। श्रीरंगपट्टम की आखिरी जंग में कंपनी को सफलता मिली। अपनी राजधानी की रक्षा करते हुए टीपू सुल्तान मारे गए और मैसूर का राजकाज पुराने वोडियार राजवंश के हाथों में सौंप दिया गया। इसके सात ही मैसूर पर भी सहायक संधि थोप दी गई।

मराठों से लड़ाई

अठारहवीं शताब्दी के आखिर से कंपनी मराठों की ताकत को भी काबू और खत्म करने के बारे में सोचने लगी थी। 1761 में पानीपत की तीसरी लड़ाई में हार के बाद दिल्ली से देश का शासन चलाने का मराठों का सपना चूर-चूर हो गया। उन्हें कई राज्यों में बाँट दिया गया। इन राज्यों की बागडोर सिंधिया, होलकर, गायकवाड और भोंसले जैसे-अलग-अलग राजवंशों के हाथों में थी। ये सारे सरदार एक पेशवा (सर्वोच्च मंत्री) के अंतर्गत एक कन्फेडरेसी (राज्यमण्डल) के सदस्य थे। पेशवा इस राज्यमण्डल का सैनिक और प्रशासकीय प्रमुख होता था और पुणे में रहता था। महादजी सिंधिया और नाना फडनवीस अठारहवीं सदी के आखिर के दो प्रसिद्ध मराठा योद्धा और राजनीतिज्ञ थे।

एक के बाद एक कई युद्धों में कंपनी ने मराठों को घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। पहला युद्ध 1782 में सालबाई संधि के साथ खत्म हुआ जिसमें कोई पक्ष नहीं जीत पाया। दूसरा अंग्रेज मराठा युद्ध (1803-05) कई मोर्चों पर लड़ा गया। इसका नतीजा यह हुआ कि उड़ीसा और यमुना के उत्तर में स्थित आगरा व दिल्ली सहित कई भूभाग अंग्रेजों के कब्जे में आ गए। अंततः 1817-19 के तीसरे अंग्रेज-मराठा युद्ध में मराठों की ताकत को पूरी तरह कुचल दिया गया। पेशवा को पुणे से हटाकर कानपुर के पास बिठूर में पेंशन पर भेज दिया गया। अब विंध्य के दक्षिण में स्थित पूरे भूभाग पर कंपनी का नियंत्रण हो चुका था।

ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रभुसत्ता का विस्तार

1830 के दशक के अंत में ईस्ट इंडिया कंपनी रूस के प्रभाव से बहुत डरी हुई थी। कंपनी को भय था कि कहीं रूस का प्रभाव पूरे एशिया में फैलकर उत्तर-पश्चिम से भारत को भी अपनी चपेट में न ले ले। इसी डर के चलते अंग्रेज अब उत्तर-पश्चिमी भारत पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे। उन्होंने 1838 से 1842 के बीच अफगानिस्तान के साथ एक लंबी लड़ाई लड़ी और वहाँ अप्रत्यक्ष कंपनी शासन स्थापित कर लिया। 1843 में सिंध भी कब्जे में आ गया। इसके बाद पंजाब की बारी थी। यहाँ महाराजा रणजीत सिंह ने कंपनी की दाल नहीं गलने दी। 1839 में उनकी मृत्यु के बाद इस रियासत के साथ दो लंबी लड़ाइयाँ हुईं और आखिरकार 1849 में अंग्रेजों ने पंजाब का भी अधिग्रहण कर लिया।

विलय नीति

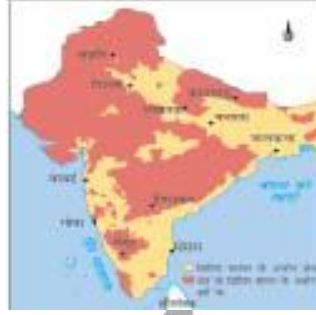
अधिग्रहण की आखिरी लहर 1848 से 1856 के बीच गवर्नर-जनरल बने लॉर्ड डलहौजी के शासन काल में चली। लॉर्ड डलहौजी ने एक नयी नीति अपनाई जिसे विलय नीति का नाम दिया गया। यह सिद्धांत इस तर्क पर आधारित था कि अगर किसी शासक की मृत्यु हो जाती है और उसका कोई पुरुष वारिस नहीं है तो उसकी रि यासत हड़प कर ली जाएगी यानी कंपनी के भूभाग का हिस्सा बन जाएगी। इस सिद्धांत के आधार पर एक के बाद एक कई रियासतें- सतारा (1848), संबलपुर (1850), उदयपुर (1852), नागपुर (1853) और झाँसी (1854) अंग्रेजों के हाथ में चली गईं।

आखिरकार 1856 में कंपनी ने अवध को भी अपने नियंत्रण में ले लिया इस बार अंग्रेजों ने एक नया तर्क दिया। उन्होंने कहा कि वे अवध की जनता को नवाब के "कुशासन" से आजाद कराने के लिए "कर्तव्य से बँधे" हुए हैं इसलिए वे अवध पर कब्जा करने को मजबूर हैं! अपने प्रिय नवाब को जिस तरह से गद्दी से हटाया गया, उसे देखकर लोगों में गुस्सा भड़क उठा और अवध के लोग भी 1857 के महान विद्रोह में शामिल हो गए।

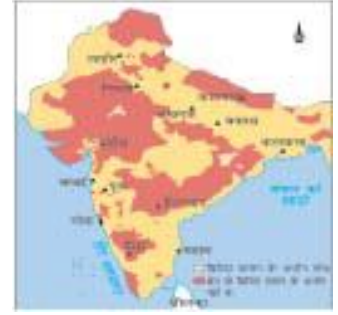
NOTES



चित्र-भारत, 1797



चित्र-भारत, 1840



चित्र-भारत 1857

संलग्न चित्रों में भारत में अंग्रेजों की फैलती सत्ताएँ। इन नक्शों को भारत के वर्तमान राजनीतिक नक्शों के साथ रखकर देखें। तीनों नक्शों में उन इलाकों की पहचान करें जो ब्रिटिश शासन के अंतर्गत नहीं थे।

नए शासन की स्थापना

गवर्नर-जनरल वॉरेन हेस्टिंग्स (1773-1785) उन बहुत सारे महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से था जिन्होंने कंपनी की ताकत फैलाने में अहम भूमिका अदा की थी। वॉरेन हेस्टिंग्स के समय तक आते-आते कंपनी न केवल बंगाल बल्कि बम्बई और मद्रास में भी सत्ता हासिल कर चुकी थी। ब्रिटिश इलाके मोटे तौर पर प्रशासकीय इकाइयों में बँटे हुए थे जिन्हें प्रेजिडेंसी कहा जाता था। उस समय तीन प्रेजिडेंसी थीं- बंगाल, मद्रास और बम्बई। हरेक का शासन गवर्नर के पास होता था। सबसे ऊपर गवर्नर-जनरल होता था। वॉरेन हेस्टिंग्स ने कई प्रशासकीय सुधार किए। न्याय के क्षेत्र में उसके सुधार खासतौर से उल्लेखनीय थे।

1772 से एक नयी न्याय व्यवस्था स्थापित की गई। इस व्यवस्था में प्रावधान किया गया कि हर जिले में दो अदालतें होंगी- फौजदारी अदालत और दीवानी अदालत। दीवानी अदालतों के मुखिया यूरोपीय जिला कलेक्टर होते थे। मौलवी और हिंदू पंडित उनके लिए भारतीय कानूनों की व्याख्या करते थे। फौजदारी अदालतें अभी भी काज़ी और मुफ्ती के ही अंतर्गत थी लेकिन वे भी कलेक्टर की निगरानी में काम करते थे।

काज़ी - एक न्यायाधीश
मुफ्ती - मुस्लिम समुदाय का एक न्यायविद जो कानूनों की व्याख्या करता है। काज़ी इसी व्याख्या के आधार पर फैसले सुनाता है।

एक बड़ी समस्या यह थी कि ब्राह्मण पंडित धर्मशास्त्र की अलग-अलग शाखाओं के हिसाब से स्थानीय कानूनों की अलग-अलग व्याख्या कर देते थे। इस भिन्नता को खत्म करके समरूपता लाने के लिए 1775 में 11 पंडितों को भारतीय कानूनों का एक संकलन तैयार करने का काम सौंपा गया। एन. बी. हालहेड ने इस संकलन का अंग्रेजी में अनुवाद किया। 1778 तक यूरोपीय न्यायाधीशों के लिए मुस्लिम कानूनों की भी एक संहिता तैयार कर ली गई थी। 1773 के रेग्युलेंटिंग ऐक्ट के तहत एक नए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई। इसके अलावा कलकत्ता में अपीलीय अदालत- सदर निज़ामत अदालत- की भी स्थापना की गई।

भारतीय जिले में कलेक्टर सबसे बड़ा ओहदा होता था। जैसा कि नाम से ही पता चलता है, उसका मुख्य काम लगान और कर इकट्ठा करना तथा न्यायाधीशों, पुलिस अधिकारियों तथा दरोगा की सहायता से जिले में कानून- व्यवस्था बनाए रखना होता था। उसका कार्यालय- सत्ता और संरक्षण का नया केंद्र बन गया था जिसने पुराने सत्ता केंद्रों को हाशिये पर ढकेल दिया।

कंपनी की फौज

1820 के दशक से जैसे-जैसे युद्ध तकनीक बदलने लगी कंपनी की सेना में घुड़सवार टुकड़ियों की जरूरत कम होती गई इसकी वजह यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य बर्मा, अफगानिस्तान और मिस्र में भी लड़

NOTES

रहा था जहां सिपाही मस्केट (तोड़ेदार बंदूक) और मैचलॉक से लैस होते थे। कंपनी की सेना के सिपाहियों को बदलती सैनिक आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता था और अब उसकी पैदल टुकड़ी ज्यादा महत्वपूर्ण होती जा रही थी।

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में अंग्रेज एक समरूप सैनिक संस्कृति विकसित करने लगे थे। सिपाहियों को यूरोपीय ढंग का प्रशिक्षण, अभ्यास और अनुशासन सिखाया जाने लगा। अब उनका जीवन पहले से भी ज्यादा नियंत्रित था। इस कोशिश में कभी-कभी समस्याएँ भी आ जाती थीं क्योंकि पेशेवर सिपाहियों की सेना खड़ा करने के चक्कर में अंग्रेज कई बार जाति और समुदाय की भावनाओं को नज़रअंदाज कर देते थे। भला लोग अपनी जातीय और धार्मिक भावनाओं को इतनी आसानी से कैसे छोड़ सकते थे? क्या वे खुद को अपने समुदाय का सदस्य मानने की बजाय सिर्फ सिपाही मान सकते थे?

सिपाही क्या महसूस करते थे? अपने जीवन और अपनी पहचान, यानी वे कौन हैं, इस बात को अहसास में जो बदलाव आ रहे थे उनको सिपाहियों ने किस तरह देखा? 1857 का विद्रोह हमें सिपाहियों की इस दुनिया की झलक दिखाता है।

निष्कर्ष

ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी से बढ़ते-बढ़ते एक भौगोलिक औपनिवेशिक शक्ति बन गई। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में नयी भाप तकनीक के आने से यह प्रक्रिया और तेज़ हुई। तब तक समुद्र मार्ग से भारत पहुँचने में 6-8 माह का समय लग जाता था। भाप से चलने वाले जहाजों ने यह यात्रा तीन हफ्तों में समेट दी। इसके बाद तो ज्यादा से ज्यादा अंग्रेज और उनके परिवार भारत जैसे दूर देश में आने लगे।

1857 तक भारतीय उपमहाद्वीप के 63 प्रतिशत भूभाग और 78 प्रतिशत आबादी पर कंपनी का सीधा शासन स्थापित हो चुका था। देश के शेष भूभाग और आबादी पर कंपनी का अप्रत्यक्ष प्रभाव था। इस प्रकार, व्यावहारिक स्तर पर ईस्ट इंडिया कंपनी पूरे भारत को अपने नियंत्रण में ले चुकी थी।



KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-21 : ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना

कंपनी दीवान बन गई

12 अगस्त 1765 को मुगल बादशाह ने ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल का दीवान तैनात किया। बंगाल की दीवानी हाथ आ जाना अंग्रेजों के लिए निश्चय ही एक बड़ी घटना थी।

दीवान के तौर पर कंपनी अपने नियंत्रण वाले भूभाग के आर्थिक मामलों की मुख्य शासक बन गई थी। अब उसे अपनी जमीन का शासन चलाने और आमदनी को व्यवस्थित करने का रास्ता ढूँढना था। इसके लिए उसे एक ऐसा रास्ता ढूँढना था जिससे कंपनी के बढ़ते खर्चों को पूरा करने के लिए काफी आमदनी जुटाई जा सके। व्यापारिक कंपनी के नाते उसे यह खयाल भी रखना था कि वह अपनी जरूरत की चीजें खरीदती-बेचती रहे।

समय के साथ कंपनी को यह भी समझ में आने लगा कि उसे सावधानी के साथ आगे बढ़ना होगा। बाहरी ताकत होने की वजह से उसे उन लोगों को भी शांत रखना था जो गाँव-देहात में पहले शासन चला चुके थे और जिनके पास अभी भी काफी ताकत और सम्मान था। ऐसे जो लोग स्थानीय सत्ता में रह चुके थे उन्हें नियंत्रित करना तो जरूरी था लेकिन उन्हें खत्म नहीं किया जा सकता था।

कंपनी की आमदनी

कंपनी दीवान तो बन गई थी लेकिन अभी भी खुद को एक व्यापारी ही मानती थी। कंपनी भारी-भरकम लगान तो चाहती थी लेकिन उसके आकलन और वसूली की कोई नियमित व्यवस्था करने में हिचकिचा रही थी। उसकी कोशिश यह थी कि वह ज्यादा से ज्यादा राजस्व हासिल करे और कम से कम कीमत पर बढ़िया सूती और रेशमी कपड़ा खरीदे। इसी कारण, पाँच साल के भीतर बंगाल में कंपनी द्वारा खरीदी जाने वाली चीजों का कुल मूल्य दोगुना हो चुका था। 1865 से पहले कंपनी ब्रिटेन से सोने और चांदी का आयात करती थी और इन चीजों के बदले सामान खरीदती थी। अब बंगाल में इकट्ठा होने वाले पैसे से ही निर्यात के लिए वस्तुएँ खरीदी जा सकती थी।

जल्द ही यह जाहिर हो गया कि बंगाल की अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट में फँसती जा रही है। कारीगर गाँव छोड़कर भाग रहे थे क्योंकि उन्हें बहुत कम कीमत पर अपनी चीजें कंपनी को जबरन बेचनी पड़ती थी। किसान अपना लगान हीं चुका पा रहे थे। कारीगरों का उत्पादन गिर रहा था और खेती चौपट होने की दिशा में बढ़ रही थी। 1770 में पड़े अकाल ने बंगाल में एक करोड़ लोगों को मौत की नींद सुला दिया। इस अकाल में लगभग एक तिहाई आबादी समाप्त हो गई।

खेती में सुधार की जरूरत

अगर अर्थव्यवस्था संकट में थी तो क्या कंपनी अपनी राजस्व आय के बारे में आश्वस्त रह सकती थी? कंपनी के ज्यादातर अफसरों को यह लगने लगा कि जमीन में निवेश करना और खेती में सुधार लाना जरूरी है।



चित्र : 1765 में रॉबर्ट क्लाइव मुगल बादशाह से बिहार और उड़ीसा की दीवानी ग्रहण करते हुए।

NOTES

यह काम किस तरह किया जा सकता था? इस सवाल पर दो दशकों तक बहस चली। आखिरकार कंपनी ने 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इस बंदोबस्त की शर्तों के हिसाब से राजाओं और तालुकदारों को जमींदारों के रूप में उन्हें किसानों से लगान वसूलने और कंपनी को राजस्व चुकाने का जिम्मा सौंपा गया। उनकी ओर से चुकाई जाने वाली राशि स्थायी रूप से तय कर दी गई थी। इसका मतलब यह था कि भविष्य में कभी भी उसमें इजाफा नहीं किया जाना था। अंग्रेजों को लगता था कि इससे उन्हें नियमित रूप से राजस्व मिलता रहेगा और जमींदारों को जमीन में सुधार के लिए खर्च करने का प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हें लगता था कि क्योंकि राज्य की ओर से राजस्व की माँग बढ़ने वाली नहीं थी इसलिए जमींदार बढ़ते उत्पादन से फायदे में रहेंगे।

समस्या

मगर स्थायी बंदोबस्त ने भी समस्या पैदा कर दी। कंपनी के अफसरों ने पाया कि अभी भी जमींदार जमीन में सुधार के लिए खर्चा नहीं कर रहे थे। असल में, कंपनी ने जो राजस्व तय किया था वह इतना ज्यादा था कि उसको चुकाने में जमींदारों को भारी परेशानी हो रही थी। जो जमींदार राजस्व चुकाने में विफल हो जाता उसकी जमींदारी छीन ली जाती थी। बहुत सारी जमींदारियों को कंपनी बाकायदा नीलाम कर चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी के पहले दशक तक हालात बदल चुके थे। बाजार में कीमतें बढ़ीं और धीरे-धीरे खेती का विस्तार होने लगा। इससे जमींदारों की आमदनी में तो सुधार आया लेकिन कंपनी को कोई फायदा नहीं हुआ क्योंकि कंपनी तो हमेशा के लिए राजस्व तय कर चुकी थी अब वह राजस्व में वृद्धि नहीं कर सकती थी।

लेकिन जमींदारों को अभी भी जमीन की बेहतरी में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनमें से कुछ तो बंदोबस्त के शुरुआती सालों में ही अपनी जमीन गँवा चुके थे। जो बचे रह गए थे अब उन्हें भी बिना परेशानी और निवेश का खतरा उठाए आमदनी की उम्मीद दिखाई दे रही थी। जब तक जमींदार किसानों को जमीन देकर उनसे लगान वसूल सकते थे उन्हें जमीन में सुधार की परवाह नहीं थी।

दूसरी तरफ, गाँवों में किसानों को यह व्यवस्था बहुत दमनकारी दिखाई दी। किसान को जो लगान चुकाना था वह बहुत ज्यादा था और जमीन पर उसका अधिकार सुरक्षित नहीं था। लगान चुकाने के लिए अकसर महाजन से कर्जा लेना पड़ता था। अगर वह लगान नहीं चुका पाता था तो उसे पुश्तैनी जमीन से बेदखल कर दिया जाता था।

महालवारी बंदोबस्त

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में ही कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों को इस बात का यकीन हो चुका था कि राजस्व बंदोबस्त में दोबारा बदलाव लाना जरूरी है। जब कंपनी को शासन और व्यापार के अपने खर्चे चलाने के लिए और अधिक पैसे की जरूरत हो तो वह स्थायी रूप से राजस्व तय करके काम कैसे चला सकती है?

बंगाल प्रेजिडेंसी के उत्तर-पश्चिमी प्रांतों (इस इलाके का ज्यादातर हिस्सा अब उत्तर प्रदेश में है) के लिए होल्ट मैकेंजी नामक अंग्रेज ने एक नयी व्यवस्था तैयार की जिसे 1822 में लागू किया गया। मैकेंजी को विश्वास था कि उत्तर भारतीय समाज में गाँव एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है और उसको बचाए रखना चाहिए। उसके आदेश पर कलेक्टरों ने गाँव-गाँव का दौरा किया, जमीन की जाँच की, खेतों को मापा और विभिन्न समूहों के रीति-रिवाजों को दर्ज किया। गाँव के एक-एक खेत के अनुमानित राजस्व को जोड़कर हर गाँव या ग्राम समूह (महाल) से वसूल होने वाले राजस्व का हिसाब लगाया

महल- ब्रिटिश राजस्व दस्तावेजों में महल एक राजस्व इकाई थी। यह एक गाँव या गाँवों एक समूह होती थी।

NOTES

जाता था। इस राजस्व को स्थायी रूप से तय नहीं किया गया बल्कि उसमें समय-समय पर संशोधनों की गुंजाइश रखी गई। राजस्व इकट्ठा करने और उसे कंपनी को अदा करने का जिम्मा जमींदार की बजाय गाँव के मुखिया को सौंप दिया गया। इस व्यवस्था को महालवारी बंदोबस्त का नाम दिया गया।

मुनरो व्यवस्था (रैयतवारी)

ब्रिटिश नियंत्रण वाले दक्षिण भारतीय इलाकों में भी स्थायी बंदोबस्त की जगह नयी व्यवस्था अपनाते का प्रयास किया जाने लगा। वहाँ जो नयी व्यवस्था विकसित हुई उसे रैयतवार (या रैयतवारी) का नाम दिया गया। कैप्टन एलेक्जेंडर रीड ने टीपू सुल्तान के साथ चले युद्धों के बाद कंपनियों द्वारा कब्जे में लिए गए कुछ इलाकों में इस व्यवस्था को आजमा कर भी देख लिया था। टॉमस मुनरो ने इस व्यवस्था को विकसित किया और धीरे-धीरे पूरे दक्षिणी भारत पर यही व्यवस्था लागू कर दी गई।

रीड और मुनरो को लगता था कि दक्षिण में परंपरागत जमींदार नहीं थे। इसलिए उनका तर्क यह था कि उन्हें सीधे किसानों (रैयतों) से ही बंदोबस्त करना चाहिए जो पीढ़ियों से जमीन पर खेती करते आ रहे हैं। राजस्व आकलन से पहले उनके खेतों का सावधानीपूर्वक और अलग से सर्वेक्षण किया जाना चाहिए। मुनरो का मानना था कि अंग्रेजों को पिता की भाँति किसानों की रक्षा करनी चाहिए।

रैयतवारी व्यवस्था की कमियाँ

नयी व्यवस्थाएँ लागू होने के बाद महज कुछ साल के भीतर उनमें समस्याएँ दिखाई देने लगीं। जमीन से होने वाली आमदनी बढ़ाने के चक्कर में राजस्व अधिकारियों ने बहुत ज्यादा राजस्व तय कर दिया था। किसान राजस्व चुका नहीं पा रहे थे। रैयत गाँवों से भाग रहे थे। बहुत सारे क्षेत्रों में गाँव वीरान हो गए थे। आशावादी अफसरों को उम्मीद थी कि नयी व्यवस्था किसानों को संपन्न उद्यमशील किसान बना देगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

यूरोप के लिए फसलें

अंग्रेजों ने यह भी महसूस किया कि ग्रामीण इलाके न केवल राजस्व प्रदान कर सकते हैं बल्कि वहाँ यूरोप की जरूरतों के हिसाब से सही फसलें भी पैदा की जा सकती हैं। अठारहवीं सदी के आखिर तक कंपनी ने अफीम और नील की खेती पर पूरा जोर लगा दिया था। इसके बाद लगभग 150 साल तक अंग्रेज देश के विभिन्न भागों में किसी न किसी फसल के लिए किसानों को मजबूर करते रहे- बंगाल में पटसन, असम में चाय, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में गन्ना, पंजाब में गेहूँ, महाराष्ट्र व पंजाब में कपास, मद्रास में चावल।

भारतीय नील की माँग क्यों थी?

नील का पौधा मुख्य रूप से उष्णकटिबंधीय इलाकों में ही उगता है। तेरहवीं सदी तक इटली, फ्रांस और ब्रिटेन के कपड़ा उत्पादक कपड़े की रंगाई के लिए भारतीय नील का इस्तेमाल कर रहे थे।

उस समय भारतीय नील की बहुत थोड़ी मात्रा ही यूरोपीय बाजारों में पहुँचती थी। उसकी कीमत भी बहुत ऊँची रहती थी। इसीलिए यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों को बैंगनी और नीले रंग बनाने के लिए वोड नामक एक और पौधे पर निर्भर रहना पड़ता था। वोड पौधा शीतोष्ण क्षेत्र में उगता था इसलिए यूरोप में आसानी से मिल जाता था। उत्तरी इटली, दक्षिणी फ्रांस व जर्मनी और ब्रिटेन के कई हिस्सों में यह पौधा उगता था। नील के साथ प्रतिस्पर्धा से परेशान यूरोप के वोड उत्पादकों ने अपनी सरकारों पर दबाव डाला कि वे नील के आयात पर पाबंदी लगा दें।

बागान- एक विशाल खेत जिस पर बागान मालिक बहुत सारे लोगों से जबरन काम करवाता था। कॉफी, गन्ना, तंबाकू, चाय और कपास आदि के विषय में बागानों का जिक्र किया जाता था।

NOTES

मगर कपड़े को रंगने वाले तो नील को ही पसंद करते थे। नील से बहुत चमकदार नीला रंग मिलता था जबकि वोड से मिलने वाला रंग बेजान और फीका होता था। सत्रहवीं सदी तक आते-आते यूरोपीय कपड़ा उत्पादकों ने नील के आयात पर लगी पाबंदी में ढील देने के लिए अपनी सरकारों को राजी कर लिया। कैरीबियाई द्वीप समूह स्थित सेंट डॉमिंग्यू में फ्रांसीसी, ब्राजील में पुर्तगाली, जमैका में ब्रिटिश और वेनेजुएला में स्पैनिश लोग नील की खेती करने लगे। उत्तरी अमेरिका के भी बहुत सारे भागों में नील के बागान सामने आ गए थे।

अठारहवीं शताब्दी के आखिर तक भारतीय नील की माँग और बढ़ गई। ब्रिटेन में औद्योगीकरण का युग शुरू हो चुका था और उसके कपास उत्पादन में भारी इजाफा हुआ। अब कपड़ों की रँगई की माँग और तेज़ी से बढ़ने लगी। जब नील की माँग बढ़ी उसी दौरान वेस्टइंडीज और अमेरिका से मिलने वाली आपूर्ति अनेक कारणों से बंद हो गई। 1783 से 1789 के बीच दुनिया का नील उत्पादन आधा रह गया था। ब्रिटेन के रँगरेज़ अब नील की आपूर्ति के लिए बैचैनी से किसी और स्रोत की तलाश कर रहे थे।

यह नील भारत से मिल सकता था

भारत में ब्रिटेन की बढ़ती दिलचस्पी

यूरोप में नील की बढ़ती माँग को देखते हुए ईस्ट इंडिया कंपनी भी भारत में नील की खेती बढ़ाने के रास्ते ढूँढ़ने लगी।

अठारहवीं सदी के आखिरी दशकों से ही बंगाल में नील की खेती तेज़ी से फैलने लगी थी। बंगाल में पैदा होने वाला नील दुनिया के बाज़ारों पर छा गया था। 1788 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा केवल लगभग 30 प्रतिशत था। 1810 में ब्रिटेन द्वारा आयात किए गए नील में भारतीय नील का हिस्सा 95 प्रतिशत हो चुका था।

जैसे-जैसे नील का व्यापार फैला, कंपनी के अफसर और व्यावसायिक एजेंट नील के उत्पादन में पैसा लगाने लगे। समय बीतने के साथ कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों ने नील के अपने कारोबार पर ध्यान देने के लिए अपनी नौकरियाँ छोड़ दी। भारी मुनाफ़े की उम्मीद से स्कॉटलैंड और इंग्लैंड के बहुत सारे लोग भारत आए और उन्होंने नील के बागान लगा लिए। जिनके पास नील की पैदावार के लिए पैसा नहीं था उन्हें कंपनी और नए-नए बैंक कर्जा देने को तैयार रहते थे।

नील की खेती कैसे होती थी?

नील की खेती के दो मुख्य तरीके थे- निज और रैयती। निज खेती की व्यवस्था में बागान मालिक खुद अपनी जमीन में नील का उत्पादन करते थे। या तो वह जमीन खरीद लेते थे या दूसरे जमींदारों से जमीन भाड़े पर ले लेते थे और मजदूरों को काम पर लगाकर नील की खेती करवाते थे।

निज खेती की समस्याएँ

बागान मालिकों को निज खेती का क्षेत्रफल फैलाने में मुश्किल आ रही थी। नील की खेती केवल उपजाऊ जमीन पर की जा सकती थी। ऐसी जमीनों पर आबादी पहले ही बहुत ज्यादा थी। यहाँ-वहाँ छोटे-मोटे खेत ही उनके हाथ लग पाते थे। नील की खेती करने के लिए उन्हें बड़े-बड़े भूखण्डों की जरूरत थी। इस तरह की जमीने उन्हें कहाँ से मिल सकती थीं? उन्होंने नील की फैक्ट्री के इर्द-गिर्द पट्टे पर जमीन लेने के प्रयास किए और वहाँ के किसानों को हटवा दिया। इससे टकराव और तनाव पैदा हो जाता था।

मजदूरों का इंतजाम करना भी आसान नहीं था। बड़े बागान के लिए बहुत सारे मजदूरों की जरूरत होती थी। मजदूरों की जरूरत भी सबसे ज्यादा उसी समय होती थी जब किसान धान की खेती में व्यस्त रहते थे।

NOTES

बड़े पैमाने पर निज खेती के लिए बहुत सारे हल-बैलों की भी जरूरत थी। एक बीघा नील की खेती के लिए दो हल चाहिए होते थे। इसका मतलब यह था कि अगर किसी बागान मालिक के पास एक हजार बीघा ज़मीन है तो उसे दो हजार हलों की जरूरत पड़ती। हलों को खरीदना और उनका रखरखाव एक बड़ी समस्या थी। किसानों से भी हल नहीं मिल सकते थे। उन्हें अपने लिए ही इन चीज़ों की जरूरत होती थी। जिस समय नील उत्पादकों को जरूरत होती थी उसी समय किसानों के हल-बैल भी चावल के खेतों में व्यस्त रहते थे।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक बागान मालिक निज खेती का क्षेत्रफल फैलाने में हिचकिचाते थे। इस व्यवस्था के तहत नील की पैदावार वाली 25 प्रतिशत से भी कम जमीन आती थी। बाकी जमीन रैयती व्यवस्था के अंतर्गत थी।

रैयतों की जमीन पर नील की खेती

रैयती व्यवस्था के तहत बागान मालिक रैयतों के साथ एक अनुबंध (सट्टा) करते थे। कई बार वे गाँव के मुखियाओं को भी रैयतों की तरफ से समझौता करने के लिए बाध्य कर देते थे। जो अनुबंध पर दस्तखत कर देते थे उन्हें नील उगाने के लिए कम ब्याज दर पर बागान मालिकों से नकद कर्जा मिल जाता था कर्जा लेने वाले रैयत को अपनी कम से कम 25 प्रतिशत जमीन पर नील की खेती करनी होती थी। बागान मालिक बीज और उपकरण मुहैया कराते थे जबकि मिट्टी को तैयार करने, बीज बोने और फसल की देखभाल करने का जिम्मा काशतकारों के ऊपर रहता था।

जब कटाई के बाद फसल बागान मालिक को सौंप दी जाती थी तो रैयत को नया कर्जा मिल जाता था और वही चक्र दोबारा शुरू हो जाता था। जो किसान पहले इन कर्जों से बहुत आकर्षित थे उन्हें जल्दी ही समझ में आ गया कि यह व्यवस्था कितनी कठोर है। उन्हें नील की जो कीमत मिलती थी वह बहुत कम थी और कर्जों का सिलसिला कभी खत्म ही नहीं होता था।

समस्याएँ और भी थीं। बागान मालिक चाहते थे कि किसान अपने सबसे बढ़िया खेतों में ही नील की खेती करें। लेकिन नील के साथ परेशानी यह थी कि उसकी जड़ें बहुत गहरी होती थीं और वह मिट्टी की सारी ताकत खींच लेती थीं। नील की कटाई के बाद वहाँ धान की खेती नहीं की जा सकती थी।

“नील विद्रोह” और उसके बाद

मार्च 1859 में बंगाल के हजारों रैयतों ने नील की खेती से इनकार कर दिया। जैसे-जैसे विद्रोह फैला, रैयतों ने बागान मालिकों को लगान चुकाने से भी इनकार कर दिया। वे तलवार, भाले और तीर-कमान लेकर नील की फैक्ट्रियों पर हमला करने लगे। औरतें अपने बर्तन लेकर लड़ाई में कूद पड़ीं बागान मालिकों के लिए काम करने वालों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। बागान मालिकों की तरफ से लगान वसूली के लिए आने वाले गुमाश्ता एजेंटों - की पिटाई की गई। रैयतों ने कसम खा ली कि न तो वे नील की खेती के लिए कर्जा लेंगे और न ही बागान मालिकों के लठियालों- लाठीधारी गुंडों - से डरेंगे।

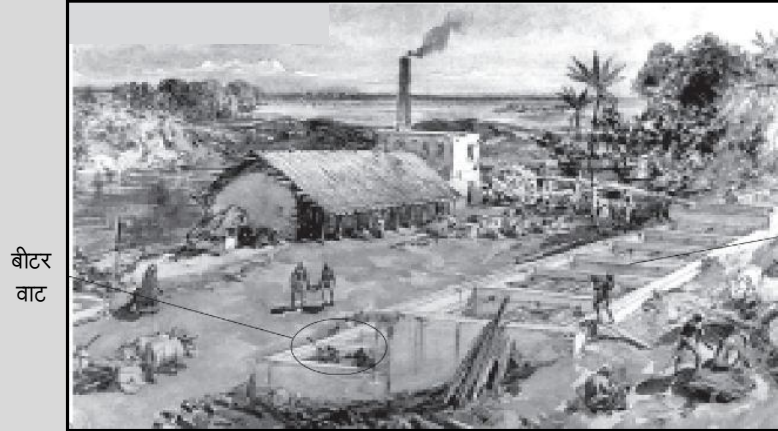
नील के किसान चुप बैठने को तैयार नहीं थे। क्यों? उन्हें बगावत की ताकत कहाँ से मिली? इसमें कोई शक नहीं कि नील की खेती अत्यन्त दमनात्मक थी। लेकिन जो लोग दबे होते हैं वे हमेशा बगावत नहीं करते। ऐसा कभी-कभी ही होता है।

1859 में नील रैयतों को लगा कि बागान मालिकों के खिलाफ बगावत में उन्हें स्थानीय ज़मींदारों और मुखियाओं का भी समर्थन मिल सकता है। बहुत सारे गाँवों में जिन मुखियाओं से नील के अनुबंधों पर जबरन दस्तखत कराए गए थे उन्होंने ही नील किसानों को इकट्ठा किया और लठियालों के साथ आमने-सामने की लड़ाई लड़ी। कई स्थानों पर रैयतों को बगावत के लिए उकसाते हुए खुद ज़मींदार गाँव-गाँव घूमने लगे। ज़मींदार इस बात से परेशान थे कि बागान मालिकों की ताकत बढ़ती जा रही थी और बागान मालिक जबरन लंबे समय के लिए उनसे ज़मीन ले लेते थे।

बीघा- जमीन की एक माप। ब्रिटिश शासन से पहले बीघे का आकार अलग-अलग होता था बंगाल में अंग्रेजों ने इसका क्षेत्रफल करीब एक तिहाई एकड़ तय कर दिया था।

NOTES

नील का उत्पादन कैसे होता था?



बीटर वाट

किण्वन हौज

चित्र-नील के खेतों के पास स्थित नील का एक कारखाना विलियम सिंप्सन का चित्र, 1863.

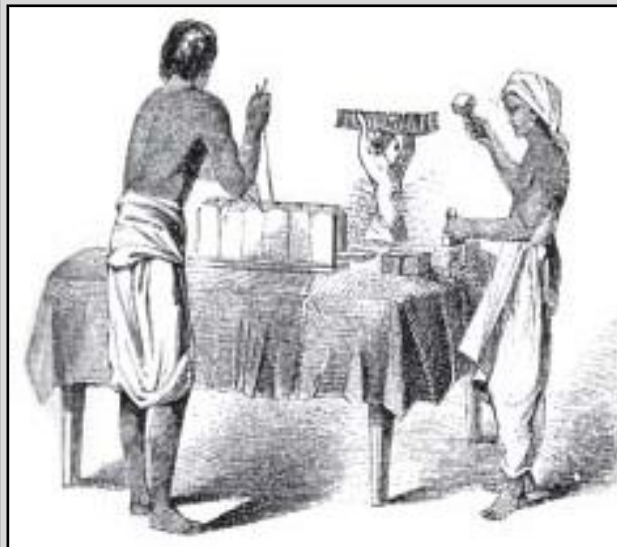


चित्र-नील के पौधों को होद तक औरतें ही ढोकर लाती थी।

किण्वित हो जाते थे तो द्रव्य में बुलबुले उठने लगते थे। अब सड़ी हुई पत्तियों को निकाल दिया जाता था और द्रव्य को एक और हौद में छान दिया जाता था। दूसरा हौद पहले हौद के ठीक नीचे होता था।

यहाँ खड़ा नील मजदूर हौद में पड़े घोल को हिलाने के लिए इस्तेमाल होने वाला पैडल लिए खड़ा है। इन मजदूरों को 8 घंटे से भी ज्यादा समय तक कमर तक भरे नील के घोल में खड़े रहना पड़ता था।

दूसरे हौद (बीटर वाट) में इस घोल को लगातार हिलाया जाता था



चित्र-बिक्री के लिए नील तैयार है।

नील गाँव आमतौर पर बागान मालिकों की फैक्ट्रियों के आस-पास ही होते थे। कटाई के बाद नील के पौधों को कारखाने में स्थित वैटस (हौद) में पहुँचा दिया जाता था। रंग बनाने के लिए 3 या 4 कुंडों की जरूरत पड़ती थी। प्रत्येक हौद का अलग काम था। नील के पौधों से पत्तियों को तोड़कर पहले एक कुंड में गर्म पानी में कई घंटों तक डुबोया जाता था (इस हौद को किण्वन या स्टीपर कुंड कहा जाता था) जब पौधे



और पैडलो से खंगाला जाता था।

जब यह चित्र-हौद में घोल हिलाने वाला द्रव्य हरा और उसके बाद नीला हो जाता था तो हौद में चूने का पानी डाला जाता था। धीरे-धीरे नील की पपड़ियाँ नीचे जम जाती थीं और ऊपर साफ द्रव्य निकल जाता था। द्रव्य को छानकर अलग कर लिया जाता था और नीचे जमी नील की गाद- नील की लुगदी को दूसरे कुंड (निथारन कुंड) में डाल दिया जाता था।

NOTES

इस के बाद उसे निचोड़कर बिक्री के लिए सुखा दिया जाता था।

यहाँ आप उत्पादन की आखिरी अवस्था को देख सकते हैं। दबाकर साँचों में डाल दी गई नील की लुगदी को काटकर मजदूर उन पर मुहर लगा रहे हैं। पीछे वाले हिस्से में एक मजदूर इन टुकड़ों को सुखाने के लिए ले जा रहा है।)

वाट - एक किण्वन अथवा संग्रहण पात्र

नील के किसानों को ये भी लग रहा था कि अंग्रेज़ी सरकार भी संघर्ष में उनका साथ देगी। 1857 की बगावत के बाद ब्रिटिश सरकार एक और व्यापक विद्रोह के खतरे से डरी हुई थी। जब नील की खेती वाले जिलों में एक और बगावत की खबर फैली तो लेफ्टिनेंट गर्वनर ने 1859 की सर्दियों में इलाकों का दौरा किया। रैयतों को लगा कि सरकार उनकी दुर्दशा से परेशान है। बरसात में मजिस्ट्रेट ऐशले ईडन ने एक नोटिस जारी किया जिसमें कहा गया था कि रैयतों को नील के अनुबंध मानने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा। इस नोटिस के आधार पर लोगों में यह खबर फैल गई कि रानी विक्टोरिया ने नील की खेती न करने का हुक्म दे दिया है। ईडन किसानों को शांत करने और विस्फोटक स्थितियों को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे थे। उसकी कार्रवाई को किसानों ने अपने विद्रोह का समर्थन मान लिया।

जैसे-जैसे विद्रोह फैला, कलकत्ता (कोलकाता) के पढ़े-लिखे लोग भी नील ज़िलों की ओर चल पड़े। उन्होंने रैयतों की दुर्दशा, बाग़ान मालिकों की जोर-जबर्दस्ती और अत्याचारी नील व्यवस्था के बारे में लिखा।

इस बगावत से परेशान सरकार को बाग़ान मालिकों की रक्षा के लिए सेना बुलानी पड़ी। नील उत्पादन व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक नील आयोग भी बना दिया गया। इस आयोग ने बाग़ान मालिकों को दोषी पाया। जोर-जबर्दस्ती के लिए उनकी आलोचना की। आयोग ने कहा कि नील की खेती रैयतों के लिए फायदे का सौदा नहीं है। आयोग ने रैयतों से कहा कि वे मौजूदा अनुबंधों को पूरा करें लेकिन आगे से वे चाहे तो नील की खेती बंद कर सकते हैं।

इस बगावत के बाद बाग़ानों में नील का उत्पादन धराशायी हो गया। इसके बाद बाग़ान मालिक बिहार पर ध्यान देने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में कृत्रिम रंगों का निर्माण होने लगा था। इससे उनका व्यवसाय भी बुरी तरह प्रभावित हुआ। फिर भी, वे उत्पादन फैलाने में सफल रहे। जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से लौटे तो बिहार के एक किसान ने उन्हें चंपारण आकर नील किसानों की दुर्दशा को देखने का न्यौता दिया। 1917 में महात्मा गाँधी का यह दौरा नील बाग़ान मालिकों के खिलाफ चंपारण आंदोलन की शुरुआत थी।

KOTHARI ■■■
GROUP OF INSTITUTIONS

NOTES

इकाई-22 : ब्रिटिश शासन और जनजातीय समुदाय

1895 में बिरसा नाम के एक आदमी को झारखंड में छोटानागपुर के जंगलों और गाँवों में घूमते देखा गया। लोग कहते थे कि उसके पास चमत्कारी शक्तियाँ हैं- वह सारी बीमारियाँ दूर कर सकता था और अनाज की छोटी से ढेरी को कई गुना बढ़ा देता था। बिरसा ने खुद यह ऐलान कर दिया था कि उसे भगवान ने लोगों की रक्षा और उनको दीकुओं (बाहरी लोगों) की गुलामी से आज़ाद कराने के लिए भेजा है। कुछ समय के भीतर हजारों लोग बिरसा के पीछे चलने लगे। वे उसे भगवान मानते थे। उन्हें यकीन था कि वह उनकी समस्याएँ दूर करने आया है।

बिरसा का जन्म एक मुंडा परिवार में हुआ था। मुंडा एक जनजातीय समूह है जो छोटानागपुर में रहता है। बिरसा के समर्थकों में इलाके के दूसरे आदिवासी संथाल और उराँव-भी शामिल थे। ये सभी अपने आसपास आ रहे बदलावों और अंग्रेज़ शासन के कारण पैदा हो रही समस्याओं से बैचने थे। उनकी परिचित जीवन पद्धति नष्ट होती दिखाई दे रही थी, आजीविका खतरे में थी और धर्म छिन्न-भिन्न हो रहा था।

जनजातीय समूह किस तरह जीते थे?

- (1) कुछ झूम (घुमंतू) खेती करते थे-
- (2) कुछ शिकारी और संग्राहक थे-
- (3) कुछ जानवर पालते थे
- (4) कुछ लोग एक जगह खेती करते थे।

औपनिवेशिक शासन से आदिवासियों के जीवन पर क्या असर पड़े

ब्रिटिश शासन के दौरान आदिवासी समूहों का जीवन बदल गया आओ देखे कि ये बदलाव क्या थे।

(1) आदिवासी मुखियाओं का क्या हुआ?

अंग्रेज़ों के आने से पहले बहुत सारे इलाकों में आदिवासियों के मुखियाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता था। उनके पास औरों से ज्यादा आर्थिक ताकत होती थी और वे अपने इलाके पर नियंत्रण रखते थे। कई जगह उनकी अपनी पुलिस होती थी और वे ज़मीन एवं वन प्रबंधन के स्थानीय नियम खुद बनाते थे। ब्रिटिश शासन के तहत आदिवासी मुखियाओं के कामकाज और अधिकार काफ़ी बदल गए थे। उन्हें कई-कई गाँवों पर ज़मीन का मालिकाना हक तो मिला रहा लेकिन उनकी शासकीय शक्तियाँ छिन गईं और उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा बनाए गए नियमों को मानने के लिए बाध्य कर दिया। उन्हें अंग्रेज़ों को नज़राना देना पड़ता था और अंग्रेज़ों के प्रतिनिधि की हैसियत से अपने समूहों को अनुशासन में रखना होता था। पहले उनके पास जो ताकत थी अब वह नहीं रही। वे परंपरागत कामों को करने से लाचार हो गए।

(2) घुमंतू काश्तकारों का क्या हुआ?

ऐसे समूहों से अंग्रेज़ों को काफ़ी परेशानी थी जो यहाँ-वहाँ भटकते रहते थे और एक जगह ठहरकर नहीं रहते थे। वे चाहते थे कि आदिवासियों के समूह एक जगह स्थायी रूप से रहें और खेती करें। स्थायी रूप से एक जगह रहने वाले किसानों को नियंत्रित करना आसान था। अंग्रेज़ अपने शासन के लिए आमदनी का नियमित स्रोत भी चाहते थे। फलस्वरूप उन्होंने ज़मीन के बारे में कुछ नियम लागू कर दिए। उन्होंने यह भी तय कर दिया कि किसे कितना लगान देना होगा। कुछ किसानों को भूस्वामी और दूसरों को पट्टेदार घोषित किया गया। पट्टेदार अपने भूस्वामियों का भाड़ा चुकाते थे और भूस्वामी सरकार को लगान देते थे।

झूम काश्तकारों को स्थायी रूप से बसाने की अंग्रेज़ों की कोशिश बहुत कामयाब नहीं रही। जहाँ पानी कम हो और मिट्टी सूखी हो, वहाँ हलों से खेती करना आसान नहीं होता। बल्कि, हलों की मदद से

NOTES

खेती करने वाले झूम काश्तकारों को अकसर नुकसान ही हुआ क्योंकि उनके खेत अच्छी उपज नहीं दे पाते थे। इसलिए, पूर्वोत्तर राज्यों से झूम काश्तकार इस बात पर अड़े रहे कि उन्हें परंपरागत ढंग से ही जीने दिया जाए। व्यापक विरोध के फलस्वरूप अंग्रेजों को आखिरकार उनकी बात माननी पड़ी और ऐसे कबीलों को जंगल के कुछ हिस्सों में घुमंतू खेती की छूट दे दी गई।

वन कानून और उनके प्रभाव

आदिवासी समूहों का जीवन जंगलों से जुड़ा हुआ था। अतः, वन कानूनों में आए बदलावों से आदिवासियों के जीवन पर भी भारी असर पड़ा। अंग्रेजों ने सारे जंगलों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था और जंगलों को राज्य की संपत्ति घोषित कर दिया था। कुछ जंगलों को आरक्षित वन घोषित कर दिया गया। ये ऐसे जंगल थे जहाँ अंग्रेजों की जरूरतों के लिए इमारती लकड़ी पैदा होती थी। इन जंगलों में लोगों को स्वतंत्र रूप से घूमने, झूम खेती करने, फल इकट्ठा करने या पशुओं का शिकार करने की इजाजत नहीं थी। ऐसी सूरत में झूम काश्तकार किस तरह जिंदा रह सकते थे? इसलिए, उनमें से बहुतों को काम और रोजगार की तलाश में मजबूरन दूसरे इलाकों में जाना पड़ा।

बहुत सारे आदिवासी समूहों ने औपनिवेशिक वन कानूनों का विरोध किया। उन्होंने नए नियमों का पालन करने से इनकार कर दिया और उन्हीं तौर-तरीकों से चलते रहे जिन्हें सरकार गैर-कानूनी घोषित कर चुकी थी। कई बार उन्होंने खुलेआम बगावत भी कर दी। 1906 में सोंग्रम संगमा द्वारा असम में और 1930 के दशक में मध्य प्रांत में हुआ वन सत्याग्रह इसी तरह के विद्रोह थे।

व्यापार की समस्या

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान जनजातीय समूहों ने पाया कि व्यापारी और महाजन जंगलों में जल्दी-जल्दी आने लगे हैं। वे वन उपज खरीदने, नकद कर्जा देने और आदिवासियों को मजदूरी पर रखने के लिए आ रहे थे। इन सारे बदलावों से क्या असर पड़ने वाले हैं, यह समझने में आदिवासियों को कुछ समय लगा।

यह समझने के लिए आइए रेशम उत्पादकों की स्थिति को देखें। अठारहवीं सदी में भारतीय रेशम की यूरोपीय बाजारों में भारी माँग थी। भारतीय रेशम की अच्छी गुणवत्ता सबको आकर्षित करती थी और भारत का निर्यात तेजी से बढ़ रहा था। जैसे-जैसे बाजार फैला ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर इस माँग को पूरा करने के लिए रेशम उत्पादन पर जोर देने लगे।

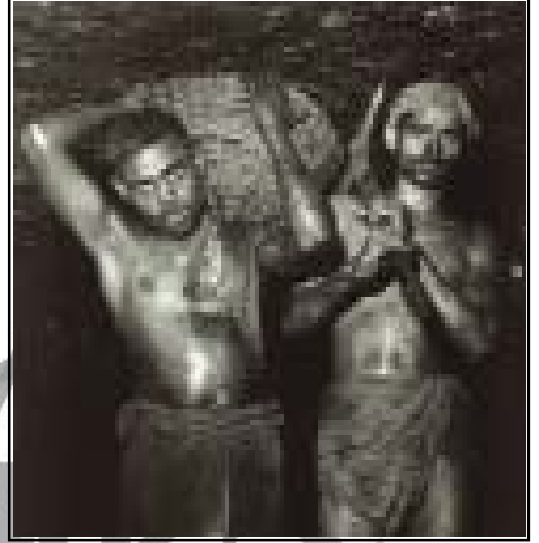
वर्तमान झारखण्ड में स्थित हज़ारीबाग के आस-पास रहने वाले संथाल रेशम के कीड़े पालते थे। रेशम के व्यापारी अपने ऐजेंटों को भेजकर आदिवासियों को कर्ज देते थे और उनके कृमिकोषों को इकट्ठा कर लेते थे। एक हज़ार कृमिकोषों के लिए 3-4 रुपए मिलते थे। इसके बाद इन कृमिकोषों को बर्दवान या गया भेज दिया जाता था जहाँ उन्हें पाँच गुना कीमत पर बेचा जाता था। निर्यातकों और रेशम उत्पादकों के बीच कड़ी का काम करने वाले बिचौलियों को जमकर मुनाफा होता था। रेशम उत्पादकों को बहुत मामूली फायदा मिलता था। स्वाभाविक है कि बहुत सारे आदिवासी समुदाय बाजार और व्यापारियों को अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानने लगे थे।

काम की तलाश

काम की तलाश में घर से दूर जाने वाले आदिवासियों की दशा तो और खराब थी। उन्नीसवीं सदी के आखिर से ही चाय बागान फैलने लगे थे। खनन उद्योग भी एक महत्वपूर्ण उद्योग बन गया था। असम के चाय बागानों और झारखण्ड की कोयला खदानों में काम करने के लिए आदिवासियों को बड़ी संख्या में भर्ती किया गया। इन लोगों को ठेकेदारों की मार्फत भर्ती किया जाता था। ये ठेकेदार न केवल उन्हें बहुत कम वेतन देते थे बल्कि उन्हें वापस घर भी लौटने नहीं देते थे।

NOTES

1920 के दशक के बिहार की झरिया और रानीगंज कोयला खदानों में काम करने वाले लगभग 50 प्रतिशत खनिक आदिवासी थे। अँधेरी और दमघोंटू खदानों की गहराई में काम करना न केवल शरीर को तोड़ता था बल्कि यह खतरनाक भी था। वह अकसर सचमुच जान ले लेता था। 1920 के दशक में देश की कोयला खदानों में हर साल 2,000 से ज्यादा मजदूर मारे जाते थे।



चित्र-बिहार के कोयला खनिक, 1948

शोषण के विरुद्ध प्रतिक्रिया

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के दौरान देश के विभिन्न भागों में जनजातीय समूहों ने बदलते कानूनों, अपने व्यवहार पर लगी पाबंदियों, नए करों और व्यापारियों व महाजनों द्वारा किए जा रहे शोषण के खिलाफ कई बार बगावत की। 1831-32 में कोल आदिवासियों ने और 1855 में संथालों ने बगावत कर दी थी। मध्य भारत में बस्तर विद्रोह 1910 में हुआ और 1940 में महाराष्ट्र में वर्ली विद्रोह हुआ। बिरसा जिस आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे वह भी इसी तरह का विद्रोह था।

बिरसा मुंडा

बिरसा का जन्म 1870 के दशक के मध्य में हुआ। उनके पिता गरीब थे। बिरसा का बचपन भेड़-बकरियाँ चराते, बाँसुरी बजाते और स्थानीय अखाड़ों में नाचते-गाते बीता था। उनकी परवरिश मुख्य रूप से बोहोंडा के आस-पास के जंगलों में हुई। गरीबी से लाचार बिरसा के पिता को काम की तलाश में जगह-जगह भटकना पड़ता था। लड़कपन में ही बिरसा ने अतीत में हुए मुंडा विद्रोहों की कहानियाँ सुन ली थी। उन्होंने कई बार समुदाय के सरदारों (मुखियाओं) को विद्रोह का आह्वान करते देखा था। बिरसा के समुदाय के लोग ऐसे स्वर्ण युग की बात किया करते थे जब मुंडा लोग दीकुओं (बाहरी लोगों) के उत्पीड़न से पूरी तरह आज़ाद थे। सरदारों का कहना था कि एक बार फिर उनके समुदाय के परंपरागत अधिकार बहाल हो जाएँगे। वे खुद को इलाके के मूल निवासियों का वंशज मानते थे और अपनी ज़मीन की लड़ाई (मुल्क की लड़ाई) लड़ रहे थे। वे लोगों को याद दिलाते थे कि उन्हें अपना साम्राज्य वापस पाना है।

बिरसा स्थानीय मिशनरी स्कूल में जाने लगे जहाँ उन्हें मिशनरियों के उपदेश सुनने का मौका मिला। वहाँ भी उन्होंने यही सुना कि मुंडा समुदाय स्वर्ग का साम्राज्य हासिल कर सकता है और अपने खोये हुए अधिकार वापस पा सकता है। अगर वे अच्छे ईसाई बन जाएँ और अपनी "खराब आदतें" छोड़ दे तो ऐसा हो सकता है। बाद में बिरसा ने एक जाने-माने वैष्णव धर्म प्रचारक के साथ भी कुछ समय बिताया। उन्होंने जनेऊ धारण किया और शुद्धता व दया पर जोर देने लगे।

अपनी किशोरावस्था में बिरसा जिन विचारों के संपर्क में आए, उनसे वह काफ़ी गहरे तौर पर प्रभावित थे। बिरसा का आंदोलन आदिवासी समाज को सुधारने का आंदोलन था। उन्होंने मुंडाओं से आह्वान किया कि वे शराब पीना छोड़ दें, गाँवों को साफ़ रखें और डायन व जादू-टोने पर विश्वास न करें। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि बिरसा ने मिशनरियों और हिंदू जमींदारों का भी लगातार विरोध किया। वह उन्हें बाहर का मानते थे जो मुंडा जीवन शैली को नष्ट कर रहे थे।

NOTES

1895 में बिरसा ने अपने अनुयायियों से आह्वान किया कि वे अपने गौरवपूर्ण अतीत को पुनर्जीवित करने के लिए संकल्प लें। वह अतीत के एक ऐसे स्वर्ण युग-सतयुग- की चर्चा करते थे जब मुंडा लोग अच्छा जीवन जीते थे, तटबंध बनाते थे, कुदरती झरनों को नियंत्रित करते थे, पेड़ और बाग लगाते थे, पेट पालने के लिए खेती करते थे। उस काल्पनिक युग में मुंडा अपने बिरादरों और रिश्तेदारों का खून नहीं बहाते थे। वे ईमानदारी से जीते थे। बिरसा चाहते थे कि लोग एक बार फिर अपनी ज़मीन पर खेती करें, एक जगह टिक कर रहें और अपने खेतों में काम करें।

अंग्रेजों को बिरसा आंदोलन के राजनीतिक उद्देश्यों से बहुत ज्यादा परेशानी थी। यह आंदोलन मिशनरियों, महाजनों, हिंदू भूस्वामियों और सरकार को बाहर निकालकर बिरसा के नेतृत्व में मुंडा राज स्थापित करना चाहता था।

यह आंदोलन इन्हीं ताकतों को मुंडाओं की सारी समस्याओं व कष्टों का स्रोत मानता था। अंग्रेजों की भूनीतियाँ उनकी परंपरागत भूमि व्यवस्था को नष्ट कर रही थीं, हिंदू भूस्वामी और महाजन उनकी ज़मीन छीनते जा रहे थे और मिशनरी उनकी परंपरागत संस्कृति की आलोचना करते थे।

जब आंदोलन फैलने लगा तो अंग्रेजों ने सख्त कार्रवाई का फ़ैसला लिया। उन्होंने 1895 में बिरसा को गिरफ्तार किया और दंगे-फ़साद के आरोप में दो साल की सज़ा सुनायी।

1897 में जेल से लौटने के बाद बिरसा समर्थन जुटाते हुए गाँव-गाँव घूमने लगे। उन्होंने लोगों को उकसाने के लिए परंपरागत प्रतीकों और भाषा का इस्तेमाल किया। वे आह्वान कर रहे थे कि उनके नेतृत्व में साम्राज्य की स्थापना के लिए "रावणों" (दीकु और यूरोपीयों) को तबाह कर दें। बिरसा के अनुयायी दीकु (बाहरी लोग) और यूरोपीय सत्ता के प्रतीकों को निशाना बनाने लगे। उन्होंने थाने और चर्चों पर हमले किए और महाजनों व ज़मींदारों की संपत्तियों पर धावा बोल दिया। सफ़ेद झंडा बिरसा राज का प्रतीक था।

सन् 1900 में बिरसा की हैजे से मृत्यु हो गई और आंदोलन ठंडा पड़ गया। यह आंदोलन दो मायनों में महत्वपूर्ण था। पहला- इसने औपनिवेशिक सरकार को ऐसे कानून लागू करने के लिए मजबूर किया जिनके जरिए दीकु लोग आदिवासियों की ज़मीन पर आसानी से कब्ज़ा न कर सकें। दूसरा, इसने एक बार फिर जता दिया कि अन्याय का विरोध करने और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अपने गुस्से को अभिव्यक्त करने में आदिवासी सक्षम हैं। उन्होंने अपने खास अंदाज़ में, अपनी खास रस्मों और संघर्ष के प्रतीकों के जरिए इस काम को अंजाम दिया।

KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

इकाई-23 : 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम और उसके बाद

नीतियाँ और लोग

पिछले अध्यायों में आपने ईस्ट इंडिया कंपनी की नीतियों और जनता पर उसके प्रभावों के बारे में पढ़ा। इन नीतियों से राजाओं, रानियों, किसानों, ज़मींदारों, आदिवासियों, सिपाहियों, सब पर तरह-तरह से असर पड़े। आप यह भी देख चुके हैं कि जो नीतियाँ और कार्रवाइयाँ जनता के हित में नहीं होतीं या जो उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाती हैं उनका लोग किस तरह विरोध करते हैं।

नवाबों की छिनती सत्ता

अठारहवीं सदी के मध्य से ही राजाओं और नवाबों की ताकत छिनने लगी थी। उनकी सत्ता और सम्मान, दोनों खत्म होते जा रहे थे। बहुत सारे दरबारों में रेजिडेंट तैनात कर दिए गए थे। स्थानीय शासकों की स्वतंत्रता घटती जा रही थी। उनकी सेनाओं को भंग कर दिया गया था। उनके राजस्व वसूली के अधिकार व इलाके एक-एक करके छीने जा रहे थे।

बहुत सारे स्थानीय शासकों ने अपने हितों की रक्षा के लिए कंपनी के साथ बातचीत भी की। उदाहरण के लिए, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई चाहती थीं कि कंपनी उनके पति की मृत्यु के बाद उनके गोद लिए हुए बेटे को राजा मान ले। पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने भी कंपनी से आग्रह किया कि उनके पिता को जे पेंशन मिलती थी वह मृत्यु के बाद उन्हें मिलने लगे। अपनी श्रेष्ठता और सैनिक ताकत के नशे में चूर कंपनी ने इन निवेदनों को ठुकरा दिया।

अवध की रियासत अंग्रेजों के कब्जे में जाने वाली आखिरी रियासतों में से थी। 1801 में अवध पर एक सहायक संधि थोपी गयी और 1856 में अंग्रेजों ने उसे अपने कब्जे में ले लिया। गवर्नर-जनरल डलहौज़ी ने ऐलान कर दिया कि रियासत का शासन ठीक से नहीं चलाया जा रहा है इसलिए शासन को दुरुस्त करने के लिए ब्रिटिश प्रभुत्व जरूरी है।

कंपनी ने मुगलों के शासन को खत्म करने की भी पूरी योजना बना ली थी। कंपनी द्वारा जारी किए गए सिक्कों पर से मुगल बादशाह का नाम हटा दिया गया। 1849 में गवर्नर जनरल डलहौज़ी ने ऐलान किया कि बहादुर शाह ज़फ़र की मृत्यु के बाद बादशाह के परिवार को लाल किले से निकाल कर उसे दिल्ली में कहीं और बसाया जाएगा। 1856 में गवर्नर-जनरल कैनिंग ने फैसला किया कि बहादुर शाह ज़फ़र आखिरी मुगल बादशाह होंगे। उनकी मृत्यु के बाद उनके किसी भी वंशज को बादशाह नहीं माना जाएगा। उन्हें केवल राजकुमारों के रूप में मान्यता दी जाएगी।

किसान और सिपाही

गाँवों में किसान और ज़मींदार भारी-भरकम लगान और कर वसूली के सख्त तौर-तरीकों से परेशान थे। बहुत सारे लोग महाजनों से लिया कर्ज़ नहीं लौटा पा रहे थे। इसके कारण उनकी पीढ़ियों पुरानी ज़मीनें हाथ से निकलती जा रही थीं।

कंपनी के तहत काम करने वाले भारतीय सिपाहियों के असंतोष की अपनी वजह थी। वे अपने वेतन, भत्तों और सेवा शर्तों के कारण परेशान थे। कई नए नियम उनकी धार्मिक भावनाओं और आस्थाओं को ठेस पहुँचाते थे। क्या आप जानते हैं कि उस ज़माने में बहुत सारे लोग समुद्र पार नहीं जाना चाहते थे। उन्हें लगता था कि समुद्र यात्रा से उनका धर्म और जाति भ्रष्ट हो जाएँगे। जब 1824 में सिपाहियों को कंपनी की ओर से लड़ने के लिए समुद्र के रास्ते बर्मा जाने का आदेश मिला तो उन्होंने इस हुक्म को मानने से इनकार

NOTES

कर दिया। उन्हें ज़मीन के रास्तेसे जाने में ऐतराज़ नहीं था। सरकार का हुक्म न मानने के कारण उन्हें सख्त सज़ा दी गई। क्योंकि यह मुद्दा अभी खत्म नहीं हुआ था इसलिए 1856 में कंपनी को एक नया कानून बनाना पड़ा। इस कानून में साफ़ कहा गया था कि अगर कोई व्यक्ति कंपनी की सेना में नौकरी करेगा तो जरूरत पड़ने पर उसे समुद्र पार भी जाना पड़ सकता है।

सिपाही गाँवों के हालात से भी परेशान थे। बहुत सारे सिपाही खुद किसान थे। वे अपने परिवार गाँवों में छोड़कर आए थे। लिहाज़ा, किसानों का गुस्सा जल्द ही सिपाहियों में भी फैल गया।

सुधारों पर प्रतिक्रिया

अंग्रेज़ों को लगता था कि भारतीय समाज को सुधारना जरूरी है। सती प्रथा को रोकने और विधवा विवाह को बढ़ावा देने के लिए कानून बनाए गए। अंग्रेज़ी भाषा की शिक्षा को जमकर प्रोत्साहन दिया गया। 1830 के बाद कंपनी ने ईसाई मिशनरियों को खुलकर काम करने और यहाँ तक कि ज़मीन व संपत्ति जुटाने की भी छूट दे दी। 1850 में एक नया कानून बनाया गया जिससे ईसाई धर्म को अपनाना और आसान हो गया। इस कानून में प्रावधान किया गया था कि अगर कोई भारतीय व्यक्ति ईसाई धर्म अपनाता है तो भी पुरखों की संपत्ति पर उसका अधिकार पहले जैसा ही रहेगा। बहुत सारे भारतीयों को यकीन हो गया था कि अंग्रेज़ उनका धर्म, उनके सामाजिक रीति-रिवाज और परंपरागत जीवनशैली को नष्ट कर रहे हैं।



चित्र - मेरठ में विद्रोही सिपाही अफसरों पर हमला करते हैं, उनके घरों में घुस जाते हैं और इमारतों में आग लगा देते हैं।

संयोग से इसी समय सरकार ने हरेक रेजिमेंट के कुछ लोगों को नयी राइफल के इस्तेमाल का तरीका बताने के लिए अलग-अलग छावनियों में भेजा। इन लोगों ने कुछ समय तक सिपाहियों को प्रशिक्षण दिया। इसी दौरान न जाने कहाँ से यह खबर फैल गई कि इन राइफलों में इस्तेमाल होने वाले कारतूसों पर गाय और सुअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया है। कुछ रेजिमेंट के लोग दूसरे लोगों को लिखकर यह खबर भेजने लगे और जल्दी ही हरेक रेजिमेंट में उत्तेजना का माहौल बन गया। कुछ लोगों ने कहा कि उनकी चालीस साल की नौकरी में सरकार ने उनके मजहब को चोट पहुँचाने के लिए कभी कुछ नहीं किया था। अवध पर कब्जे के कारण सिपाही पहले ही गुस्से में थे। स्वार्थी लोगों ने फौरन यह कहानी गढ़ दी कि अंग्रेज़ तो सबको ईसाई बनाना चाहते हैं इसीलिए उन्होंने ऐसे कारतूस तैयार किए हैं ताकि उन्हें इस्तेमाल करने से मुसलमान और हिंदू दोनों ही भ्रष्ट हो जाएँ।

NOTES

सैनिक विद्रोह जनविद्रोह बन गया

यद्यपि शासक और प्रजा के बीच संघर्ष कोई अनोखी बात नहीं होती लेकिन कभी-कभी ये संघर्ष इतने फैल जाते हैं कि राज्य की सत्ता छिन्न-भिन्न हो जाती है। बहुत सारे लोग मानने लगे थे कि उन सबका शत्रु एक है। इसलिए वे सभी कुछ करना चाहते थे। इस तरह की स्थिति में हालात अपने हाथ में लेने के लिए लोगों को संगठित होना पड़ता है, उन्हें संचार, पहलकदमी और आत्मविश्वास का परिचय देना होता है।

भारत के उत्तरी भागों में 1857 में ऐसी ही स्थिति पैदा हो गई थी। फ़तह और शासन के 100 साल बाद ईस्ट इंडिया कंपनी को एक भारी विद्रोह से जूझना पड़ रहा था। मई 1857 में शुरू हुई इस बगावत ने भारत में कंपनी का अस्तित्व ही खतरे में डाल दिया था। मेरठ से शुरू करके सिपाहियों ने कई जगह बगावत की। समाज के विभिन्न तबकों के असंख्य लोग विद्रोही तैवरों के साथ उठ खड़े हुए। कुछ लोग मानते हैं कि उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद के खिलाफ दुनिया भर में यह सबसे बड़ा सशस्त्र संघर्ष था।

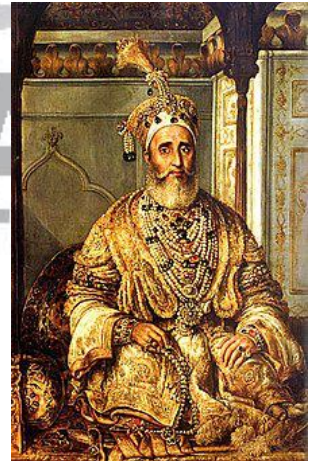


चित्र - कैवेलरी लाइनों में युद्ध। 3 जुलाई 1857 को 3,000 से ज्यादा विद्रोही बरेली से दिल्ली आ पहुँचे। उन्होंने यमुना को पार किया और ब्रिटिश कैवेलरी चौकियों पर धावा बोल दिया। यह युद्ध पूरी रात चलता रहा।

मेरठ से दिल्ली तक

29 मार्च 1857 को युवा सिपाही- मंगल पांडे- को बैरकपुर में अपने अफसरों पर हमला करने के आरोप में फाँसी पर लटका दिया गया। चंद दिन बाद मेरठ में तैनात कुछ सिपाहियों ने नए कारतूसों के साथ फ़ौजी अभ्यास करने से इनकार कर दिया। सिपाहियों को लगता था कि उन कारतूसों पर गाय और सूअर की चर्बी का लेप चढ़ाया गया था। 85 सिपाहियों को नौकरी से निकाल दिया गया। उन्हें अपने अफसरों का हुक्म न मानने के आरोप में 10-10 साल की सजा दी गई। यह 9 मई 1857 की बात है।

मेरठ में तैनात दूसरे भारतीय सिपाहियों की प्रतिक्रिया बहुत ज़बरदस्त रही। 10 मई को सिपाहियों ने मेरठ की जेल पर धावा बोलकर वहाँ बंद सिपाहियों को आज़ाद करा लिया। उन्होंने अंग्रेज़ अफसरों पर हमला करके उन्हें मार गिराया। उन्होंने बंदूक और हथियार कब्जे में ले लिए और अंग्रेज़ों की इमारतों व संपत्तियों को आग के हवाले कर दिया। उन्होंने फ़िरंगियों के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया। सिपाही पूरे देश में अंग्रेज़ों के शासन को खत्म करने पर आमादा थे। लेकिन सवाल यह था कि अंग्रेज़ों के जाने के बाद देश का शासन कौन चलाएगा। सिपाहियों ने इसका भी जवाब ढूँढ लिया था। वे मुगल सम्राट बहादुर शाह ज़फर को देश का शासन सौंपना चाहते थे।



चित्र - बहादुर शाह ज़फर

NOTES

मेरठ के कुछ सिपाहियों की एक टोली 10 मई की रात को घोड़ों पर सवार होकर मुँह अँधेरे ही दिल्ली पहुँच गई। जैसे ही उनके आने की खबर फैली, दिल्ली में तैनात टुकड़ियों ने भी बगावत कर दी। यहाँ भी अंग्रेज़ अफसर मारे गए। देशी सिपाहियों ने हथियार व गोला बारूद कब्जे में ले लिया और इमारतों को आग लगा दी। विजयी सिपाही लाल किले की दीवारों के आसपास जमा हो गए। वे बादशाह से मिलना चाहते थे। बादशाह अंग्रेज़ों की भारी ताकत से दो-दो हाथ करने को तैयार नहीं थे लेकिन सिपाही भी अड़े रहे। आखिरकार वे जबरन महन में घुस गए और उन्होंने बहादुर शाह जफर को अपना नेता घोषित कर दिया।



चित्र - नाना साहेब

बूढ़े बादशाह को सिपाहियों की यह माँग माननी पड़ी। उन्होंने देश भर के मुखियाओं और शासकों को चिट्ठी लिखकर अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए भारतीय राज्यों का एक संघ बनाने का आह्वान किया। बहादुर शाह के इस एकमात्र कदम के गहरे परिणाम सामने आए।

अंग्रेज़ों से पहले देश के एक बहुत बड़े हिस्से पर मुगल साम्राज्य का ही शासन था। ज्यादातर छोटे शासक और रजवाड़े मुगल बादशाह के नाम पर ही अपने इलाकों का शासन चलाते थे। ब्रिटिश शासन के विस्तार से भयभीत ऐसे बहुत सारे शासकों को लगता था कि अगर मुगल बादशाह दोबारा शासन स्थापित कर लें तो वे मुगल आधिपत्य में दोबारा अपने इलाकों का शासन बेफिक्र होकर चलाने लगेंगे।

अंग्रेज़ों को इन घटनाओं की उम्मीद नहीं थी। उन्हें लगता था कि कारतूसों के मुद्दे पर पैदा हुई उथल-पुथल कुछ समय में शांत हो जाएगी। लेकिन जब बहादुर शाह जफर ने बगावत को अपना समर्थन दे दिया तो स्थिति रातोंरात बदल गई। अकसर ऐसा होता है कि जब लोगों को कोई रास्ता दिखाई देने लगता है तो उनका उत्साह और साहस बढ़ जाता है। इससे उन्हें आगे बढ़ने की हिम्मत, उम्मीद और आत्मविश्वास मिलता है।

बगावत फैलने लगी

जब दिल्ली से अंग्रेज़ों के पैर उखड़ गए तो लगभग एक हफ्ते तक कहीं कोई विद्रोह नहीं हुआ। जाहिर है खबर फैलने में भी कुछ समय तो लगना ही था। लेकिन फिर तो विद्रोहों का सिलसिला ही शुरू हो गया।

एक के बाद एक, हर रेजिमेंट व लखनऊ जैसे मुख्य बिंदुओं पर दूसरी टुकड़ियों का साथ देने को निकल पड़े। वे स्थानीय नेताओं, जमींदारों और मुखियाओं के पीछे संगठित हो गए। ये लोग अपनी सत्ता स्थापित करने और अंग्रेज़ों से लोहा लेने को तैयार थे। स्वर्गीय पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र नाना साहेब कानपुर के पास रहते थे। उन्होंने सेना इकट्ठा की और ब्रिटिश सैनिकों को शहर से खदेड़ दिया। उन्होंने खुद को पेशवा घोषित कर दिया। उन्होंने ऐलान किया कि वह बादशाह बहादुर शाह जफर के



चित्र-जैसे-जैसे विद्रोह फैला, छानियों में अंग्रेज़ अफसरों को मारा जाने लगा।

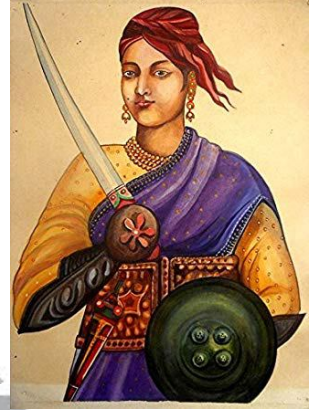
NOTES

तहत गवर्नर हैं। लखनऊ की गद्दी से हटा दिए गए नवाब वाजिद अली शाह के बेटे बिरजिस कदर को नया नवाब घोषित कर दिया गया।

बिरजिस कदर ने भी बहादुर शाह जफर को अपना बादशाह मान लिया। उनकी माँ बेगम हज़रत महल ने अंग्रेज़ों के खिलाफ़ विद्रोहों को बढ़ावा देने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई भी विद्रोही सिपाहियों के साथ जा मिली। उन्होंने नाना साहेब के सेनापति ताँत्या टोपे के साथ मिलकर अंग्रेज़ों को भारी चुनौती दी। मध्य प्रदेश के मंडला क्षेत्र में, राजगढ़ की रानी अवन्ति बाई लोधी ने 4,000 सैनिकों की फौज तैयार की और अंग्रेज़ों के खिलाफ़ उसका नेतृत्व किया क्योंकि ब्रिटिश शासन ने उनके राज्य के प्रशासन पर नियंत्रण कर लिया था।

विद्रोही टुकड़ियों के सामने अंग्रेज़ों की संख्या बहुत कम थी। बहुत सारे मोर्चों पर उनकी जबरदस्त हार हुई। इससे लोगों को यकीन हो गया कि अब अंग्रेज़ों का शासन खत्म हो चुका है। अब लोगों को विद्रोहों में कूद पड़ने का गहरा आत्मविश्वास मिल गया था। खास तौर से अवध के इलाके में चौतरफा बगावत की स्थिति थी। 6 अगस्त 1857 को लेफ्टिनेंट कर्नल टाइलर ने अपने कमांडर-इन-चीफ़ को टेलीग्राम भेजा जिसमें उसने अंग्रेज़ों के भय को व्यक्त किया था: "हमारे लोग विरोधियों की संख्या और लगातार लड़ाई से थक गए हैं। एक-एक गाँव हमारे खिलाफ़ है। ज़मींदार भी हमारे खिलाफ़ खड़े हो रहे हैं।"

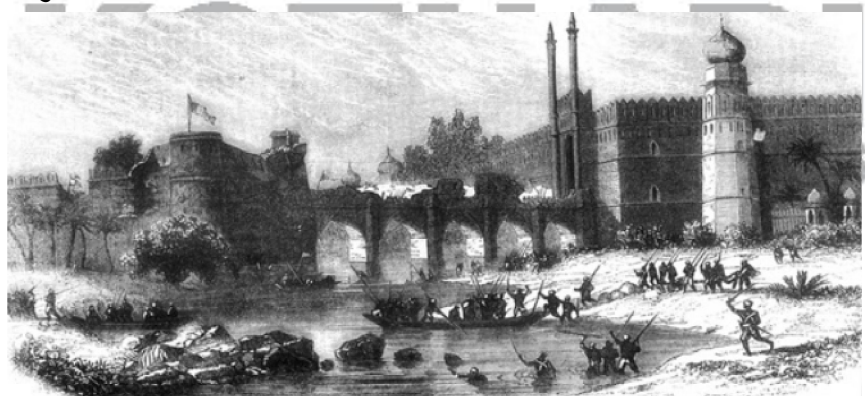
इस दौरान बहुत सारे महत्वपूर्ण नेता सामने आए। उदाहरण के लिए, फैज़ाबाद के मौलवी अहमदुल्ला शाह ने भविष्यवाणी कर दी कि अंग्रेज़ों का शासन जल्द ही खत्म हो जाएगा। वह समझ चुके थे कि जनता क्या चाहती है। इसी आधार पर उन्होंने अपने समर्थकों की एक विशाल संख्या जुटा ली। अपने समर्थकों के साथ वे भी अंग्रेज़ों से लड़ने लखनऊ जा पहुँचे। दिल्ली में अंग्रेज़ों का सफ़ाया करने के लिए बहुत सारे गाज़ी यानी, धर्मयोद्धा इकट्ठा हो गए थे। बरेली के सिपाही बख्त खान ने लड़ाकों की एक विशाल टुकड़ी के साथ दिल्ली की ओर कूच कर दिया। वह इस बगावत में एक मुख्य व्यक्ति साबित हुए। बिहार के एक पुराने जमींदार कुँवर सिंह ने भी विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया और महीनों तक अंग्रेज़ों से लड़ाई लड़ी। तमाम इलाकों के नेता और लड़ाके इस युद्ध में हिस्सा ले रहे थे।



चित्र-रानी लक्ष्मीबाई



चित्र-वीर कुँवर सिंह



चित्र 11- ब्रिटिश टुकड़ियाँ विद्रोहियों पर हमला करती हैं जिन्होंने दिल्ली के लाल क़िले (दाएँ) तथा सलीमगढ़ क़िले (बाएँ) पर कब्ज़ा किया हुआ था

NOTES



चित्र 12: विद्रोही सिपाही मेरठ से दिल्ली की तरफ कूच करते हैं।

कंपनी का पलटवार

इस उथल-पुथल के बावजूद अंग्रेजों ने हिम्मत नहीं छोड़ी। कंपनी ने अपनी पूरी ताकत लगाकर विद्रोह को कुचलने का फैसला लिया। उन्होंने इंग्लैंड से और अधिक फौजी मँगवाए, विद्रोहियों को जल्दी सजा देने के लिए नए कानून बनाए और विद्रोह के मुख्य केंद्रों पर धावा बोल दिया। सितंबर 1857 में दिल्ली दोबारा अंग्रेजों के कब्जे में आ गई। अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह ज़फर पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई। उनके बेटों को उनकी आँखों के सामने गोली मार दी गई। बहादुर शाह और उनकी पत्नी बेगम जीनत महल को अक्टूबर 1858 में रंगून जेल में भेज दिया गया। इसी जेल में नवंबर 1862 में बहादुर शाह ज़फर ने अंतिम साँस ली।

दिल्ली पर अंग्रेजों का कब्जा हो जाने का यह मतलब नहीं था कि विद्रोह खत्म हो चुका था। इसके बाद भी लोग अंग्रेजों से टक्कर लेते रहे। व्यापक बगावत की विशाल ताकत को कुचलने के लिए अंग्रेजों को अगले दो साल तक लड़ाई लड़नी पड़ी।

मार्च 1858 में लखनऊ अंग्रेजों के कब्जे में चला गया। जून 1858 में रानी लक्ष्मीबाई की शिकस्त हुई और उन्हें मार दिया गया। दुर्भाग्यवश, ऐसा ही रानी अवंति बाई लोधी के साथ हुआ। खेड़ी की शुरुआती विजय के बाद उन्होंने अपने आप को अंग्रेजी फौज से घिरा पाया और वे शहीद हो गईं।

ताँत्या टोपे मध्य भारत के जंगलों में रहते हुए आदिवासी और किसानों की सहायता से छापामार युद्ध चलाते रहे।

जिस तरह पहले अंग्रेजों के खिलाफ, मिली सफलताओं से विद्रोहियों को उत्साह मिला था उसी तरह विद्रोही ताकतों की हार से लोगों की हिम्मत टूटने लगी। बहुत सारे लोगो ने विद्रोहियों का साथ छोड़ दिया। अंग्रेजों ने भी लोगों का विश्वास जीतने के लिए हर संभव प्रयास किया। उन्होंने वफ़ादार भूस्वामियों के लिए ईनामों का ऐलान कर दिया। उन्हें आश्वासन दिया गया कि उनकी ज़मीन पर उनके परंपरागत अधिकार बने रहेंगे। जिन्होंने विद्रोह किया था उसने कहा गया कि अगर वे अंग्रेजों के सामने समर्पण कर देते हैं और अगर उन्होंने किसी अंग्रेज़ की हत्या नहीं की है तो वे सुरक्षित रहेंगे और ज़मीन पर उनके अधिकार और दावेदारी बनी रहेगी। इसके बावजूद सैकड़ों सिपाहियों, विद्रोहियों, नवाबों और राजाओं पर मुकदमे चलाए गए और उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया।

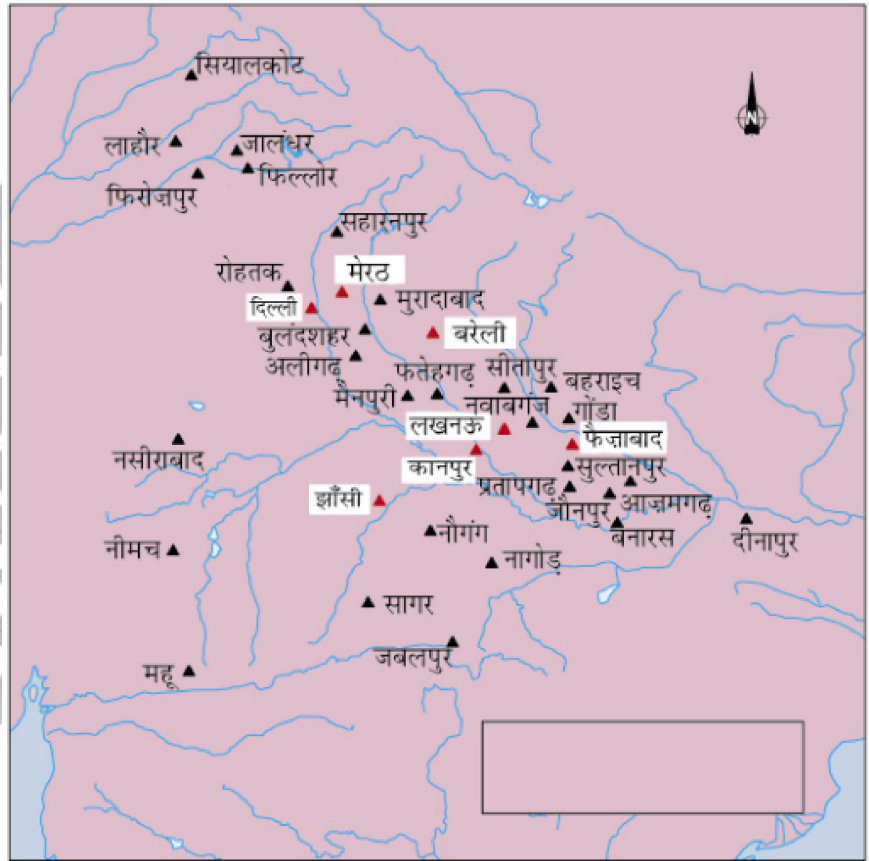
विद्रोह के बाद अंग्रेजों की नीति

अंग्रेजों ने 1859 के आखिर तक देश पर दोबारा नियंत्रण पा लिया था लेकिन अब वे पहले वाली नीतियों के सहारे शासन नहीं चला सकते थे। अंग्रेजों ने जो अहम बदलाव किए वे निम्नलिखित हैं:

NOTES

1. ब्रिटिश संसद ने 1858 में एक नया कानून पारित किया और ईस्ट इंडिया कंपनी के सारे अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के हाथ में सौंप दिए ताकि भारतीय मामलों को ज्यादा बेहतर ढंग से सँभाला जा सके। ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य को भारत मंत्री के रूप में नियुक्त किया गया। उसे भारत के शासन से संबंधित मामलों को सँभालने का जिम्मा सौंपा गया। उसे सलाह देने के लिए एक परिषद का गठन किया गया जिसे इंडिया काउंसिल कहा जाता था। भारत के गवर्नर जनरल को वायसराय का ओहदा दिया गया। इस प्रकार उसे इंग्लैंड के राजा/रानी का निजी प्रतिनिधि घोषित कर दिया गया। इस प्रकार, अंग्रेज़ सरकार ने भारत के शासन की जिम्मेदारी सीधे अपने हाथों में ले ली।

2. देश के सभी शासकों को भरोसा दिया गया कि भविष्य में कभी भी उनके भूक्षेत्र पर कब्जा नहीं किया जाएगा। उन्हें अपनी रियासत अपने वंशजों, यहाँ तक कि दत्तक पुत्रों को सौंपने की छूट दे दी गई। लेकिन उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया गया कि वे ब्रिटेन की रानी को अपना अधिपति स्वीकार करें। इस तरह, भारतीय शासकों को ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन शासन चलाने की छूट दी गई।



चित्र-उत्तरी भारत में विद्रोह के कुछ प्रमुख केंद्र।

3. सेना में भारतीय सिपाहियों का अनुपात कम करने और यूरोपीय सिपाहियों की संख्या बढ़ाने का फैसला किया गया। यह भी तय किया गया कि अवध, बिहार, मध्य भारत और दक्षिण भारत से सिपाहियों को भर्ती करने की बजाय अब गोरखा, सिखों और पठानों में से ज्यादा सिपाही भर्ती किए जाएँगे।

4. मुसलमानों की ज़मीन और संपत्ति बड़े पैमाने पर जब्त की गई। उन्हें संदेह व शत्रुता के भाव से देखा जाने लगा। अंग्रेज़ों को लगता था कि यह विद्रोह उन्होंने ही खड़ा किया था।

5. अंग्रेज़ों ने फैसला किया कि वे भारत के लोगों के धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों का सम्मान करेंगे।

6. भूस्वामियों और ज़मींदारों की रक्षा करने तथा ज़मीन पर उनके अधिकारों को स्थायित्व देने के लिए नीतियाँ बनाई गईं।

NOTES

इस प्रकार, 1857 के बाद इतिहास का एक नया चरण शुरू हुआ।



चित्र-लखनऊ रेजिडेंसी के खण्डहर।

जून 1857 में विद्रोही टुकड़ियों ने लखनऊ रेजिडेंसी को कब्जे में ले लिया। बहुत सारी अंग्रेज़ औरतों, मर्दों और बच्चों ने रेजिडेंसी की इमारतों में पनाह ली हुई थी। विद्रोहियों ने इस पूरे परिसर को घेरकर उन पर गोलों से हमला किया। इसी तरह के एक गोले से अवध के चीफ़ कमिश्नर हेनरी लॉरेंस की भी मौत हो गई थी। ■■■

KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

NOTES

इकाई-24 : ब्रिटिश शासन में शिक्षा का विकास

अंग्रेज शिक्षाविद मैकॉले ने भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सिखाने की जरूरत पर जोर दिया। उनका मानना था कि अंग्रेजी के ज्ञान से भारतीयों को दुनिया की श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतियों को पढ़ने का मौका मिलेगा; यहाँ के लोग पश्चिमी विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में हुए विकास से अवगत हो पाएंगे। इस प्रकार, उनका कहना था कि अंग्रेजी पढ़ाना लोगों को सभ्य बनाने, उनकी रुचियों, मूल्यों और संस्कृति को बदलने का रास्ता हो सकता है।

मैकॉले के मिनट्स (विवरण) के आधार पर 1835 का अंग्रेजों का शिक्षा अधिनियम पारित किया गया। ये फैसला भी लिया गया कि अंग्रेजी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाए और कलकत्ता मदरसे तथा बनारस संस्कृत कॉलेज जैसे प्राच्यवादी संस्थानों को प्रोत्साहन न दिया जाए। इन संस्थानों को "अपने आप क्षरण का शिकार होते जा रहे अंधकार के मंदिरों" की संज्ञा दी गई। अब स्कूलों के लिए भी अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकें छपने लगीं।

व्यवसाय के लिए शिक्षा

1854 में ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने भारतीय गवर्नर जनरल को शिक्षा के विषय में एक नोट भेजा। कंपनी के नियंत्रक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड के नाम से जारी किए गए इस संदेश को वुड का नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) के नाम से जाना जाता है। इस दस्तावेज़ में भारत में लागू की जाने वाली शिक्षा नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए एक बार फिर दोहराया गया है कि प्राच्यवादी ज्ञान के स्थान पर यूरोपीय शिक्षा को अपनाने से कितने व्यावहारिक लाभ प्राप्त होंगे।

इस दस्तावेज़ में यूरोपीय शिक्षा का एक व्यावहारिक लाभ आर्थिक क्षेत्र में बताया गया था। उसके मुताबिक, यूरोपीय शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को व्यापार और वाणिज्य के विस्तार से होने वाले लाभों को समझने और देश के संसाधनों के विकास का महत्त्व समझने में मदद मिलेगी। यदि उन्हें यूरोपीय जीवन शैली से अवगत कराया गया तो उनकी रुचियों और आकांक्षाओं में भी बदलाव आएगा और ब्रिटिश वस्तुओं की माँग पैदा होगी क्योंकि तब यहाँ के लोग यूरोप में बनी चीज़ों को अपनाना और खरीदना शुरू कर देंगे।

वुड के नीतिपत्र में यह तर्क भी दिया गया था कि यूरोपीय शिक्षा से भारतीयों के नैतिक चरित्र का उत्थान होगा। इससे वे ज्यादा सत्यवादी और ईमानदार बन जाएंगे और फलस्वरूप कंपनी के पास भरोसेमंद कर्मचारियों की कमी नहीं रहेगी। दस्तावेज़ के मुताबिक, पूरब का साहित्य न केवल भयानक त्रुटियों से भरा पड़ा था बल्कि यह लोगों

ज्ञानियों की भाषा?

अंग्रेजी पढ़ाने की जरूरत पर जोर देते हुए मैकॉले ने यह कहा था : सभी पक्ष इस बात पर सहमत दिखाई देते हैं कि भारत के देशी लोगों द्वारा आमतौर पर बोली जाने वाली बोलियों में न तो साहित्यिक जानकारियाँ होती हैं और न ही वैज्ञानिक। इसके अलावा, ये बोलियाँ इतनी दरिद्र और रूखी हैं कि अगर किसी और स्रोत से उनको समृद्ध न बनाया जाए तो किसी भी मूल्यवान कृति का उनमें अनुवाद भी नहीं किया जा सकता। थॉमस बेबिंगटन मैकॉले, भारतीय शिक्षा के विषय में 2 फरवरी 1835 के मिनट्स (विवरण)।

यूरोपीय ज्ञान के पक्ष में एक तर्क

1854 के वुड के नीतिपत्र में प्राच्यवादी (एशिया की भाषा व संस्कृति का गहन ज्ञान रखने वाले लोग) ज्ञान का विरोध करने वालों की निर्णायक विजय का संकेत था। इसमें कहा गया था: हमें जोर देकर यह बात कहनी चाहिए कि भारत में हम जिस शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं उस शिक्षा का लक्ष्य यूरोप की श्रेष्ठतम कलाओं, सेवाओं, दर्शन और साहित्य यानी यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना है।

NOTES

में न तो काम के प्रति दायित्व और समर्पण का भाव पैदा कर सकता है और न ही शासन के लिए आवश्यक निपुणता पैदा कर सकता है।

1854 के नीतिपत्र के बाद अंग्रेजों ने कई अहम कदम उठाए। सरकारी शिक्षा विभागों का गठन किया गया ताकि शिक्षा संबंधी सभी मामलों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित किया जा सके। विश्वविद्यालयी शिक्षा की व्यवस्था विकसित करने के लिए भी कदम उठाए गए। 1857 में जब मेरठ और दिल्ली में सिपाही विद्रोह कर रहे थे उसी समय कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना की जा रही थी। स्कूली शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन के प्रयास भी किए गए।

स्थानीय पाठशालाओं में अंग्रेजों द्वारा लाए गए परिवर्तन

1854 के बाद कंपनी ने देशी शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने का फैसला लिया। कंपनी का मानना था कि इसके लिए मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही बदलाव किये जा सकते हैं। कंपनी एक नई दिनचर्या, नए नियमों और नियमित निरीक्षणों के जरिए पाठशालाओं को और व्यवस्थित करना चाहती थी।

इसके लिए क्या किया जा सकता था? कंपनी ने क्या कदम उठाए? सबसे पहले तो कंपनी ने बहुत सारे पंडितों को सरकारी नौकरी पर रख लिया। इनमें से प्रत्येक पंडित को 4-5 स्कूलों की देखरेख का जिम्मा सौंपा दिया जाता था। पंडितों का काम पाठशालाओं का दौरा करना और वहाँ अध्यापन की स्थितियों में सुधार लाना था। प्रत्येक गुरु को निर्देश दिया गया कि वे समय-समय पर अपने स्कूल के बारे में रिपोर्ट भेजें और कक्षाओं को नियमित समय-सारणी के अनुसार पढ़ाएँ। अब अध्यापन पाठ्यपुस्तकों पर आधारित होगा और विद्यार्थियों की प्रगति को मापने के लिए वार्षिक परीक्षाओं की रूपरेखा तैयार की जाने लगी। विद्यार्थियों से कहा गया कि वे नियमित रूप से शुल्क दें, नियमित रूप से कक्षा में आएँ, तय सीट पर बैठें और अनुशासन के नियमों का पालन करें।

नए नियमों पर चलने वाली पाठशालाओं को सरकारी अनुदान मिलने लगे। जो पाठशालाएँ नई व्यवस्था के भीतर काम करने को तैयार नहीं थीं उन्हें कोई सरकारी सहायता नहीं दी जाती थी। जिन गुरुओं ने सरकारी निर्देशों का पालन करने की बजाय अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी वे सरकारी सहायता प्राप्त और नियमों से चलने वाली पाठशालाओं के सामने कमजोर पड़ने लगे।

भारतीयों की शिक्षा के लिए महात्मा गांधी के विचार

महात्मा गांधी का कहना था कि औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीयों के मस्तिष्क में हीनता का बोध पैदा कर दिया है। इसके प्रभाव में आकर यहाँ के लोग पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठतर मानने लगे हैं और अपनी संस्कृति के प्रति उनका गौरव भाव नष्ट हो गया है।

महात्मा गांधी एक ऐसी शिक्षा के पक्षधर थे जो भारतीयों के भीतर प्रतिष्ठा और स्वाभिमान का भाव पुनर्जीवित करे। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्होंने विद्यार्थियों से आह्वान किया कि वे शिक्षा संस्थानों को छोड़ दें और अंग्रेजों को बताएँ कि अब वे गुलाम बने रहने के लिए तैयार नहीं हैं।

महात्मा गांधी की दृढ़ मान्यता थी कि शिक्षा केवल भारतीय भाषाओं में ही दी जानी चाहिए।

महात्मा गांधी का कहना था कि पश्चिमी शिक्षा मौखिक ज्ञान की बजाय केवल पढ़ने और लिखने पर केंद्रित है। उसमें पाठ्यपुस्तकों पर तो जोर दिया जाता है लेकिन जीवन के अनुभवों और व्यावहारिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है। गांधी का तर्क था कि शिक्षा से व्यक्ति का दिमाग और आत्मा विकसित होनी चाहिए। उनकी राय में केवल साक्षरता - यानी पढ़ने और लिखने की क्षमता पा लेना - ही शिक्षा नहीं होती। इसके लिए तो लोगों को हाथ से काम करना पड़ता है, हुनर सीखने पड़ते हैं और यह जानना पड़ता है कि विभिन्न चीजें किस तरह काम करती हैं। इससे उनका मस्तिष्क और समझने की क्षमता, दोनों विकसित होंगे।

NOTES

टैगोर का "शांतिनिकेतन"

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह संस्था 1901 में शुरू की थी। टैगोर जब बच्चे थे तो स्कूल जाने से बहुत चिढ़ते थे। वहाँ उनका दम घुटता था। उन्हें स्कूल का माहौल दमनकारी लगता था। टैगोर को ऐसे लगता था मानो स्कूल कोई जेल हो, क्योंकि वहाँ बच्चे मनचाहा कभी नहीं कर पाते थे। जब दूसरे बच्चे शिक्षक को सुन रहे होते थे, टैगोर का दिमाग कहीं और भटक रहा होता था।

कलकत्ता के अपने स्कूल जीवन के अनुभवों ने शिक्षा के बारे में टैगोर के विचारों को काफी प्रभावित किया। जब वे बड़े हुए तो उन्होंने एक ऐसा स्कूल खोलने के बारे में सोचा जहाँ बच्चे खुश रह सकें, जहाँ वे मुक्त और रचनाशील हों, जहाँ वे अपने विचारों और आकांक्षाओं को समझ सकें। टैगोर को लगता था कि बचपन का समय अपने आप सीखने का समय होना चाहिए। वह अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई शिक्षा व्यवस्था के कड़े और बंधनकारी अनुशासन से मुक्त होना चाहिए। शिक्षक कल्पनाशील हों, बच्चों को समझते हों और उनके अंदर उत्सुकता, जानने की चाह विकसित करने में मदद दें। टैगोर के मुताबिक, वर्तमान स्कूल बच्चे की रचनाशीलता, चकित होने के उसके स्वाभाविक गुण को मार देते हैं।

टैगोर का मानना था कि सृजनात्मक शिक्षा को केवल प्राकृतिक परिवेश में ही प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने कलकत्ता से 100 किलोमीटर दूर एक ग्रामीण परिवेश में अपना स्कूल खोलने का फैसला लिया। उन्हें यह जगह निर्मल शांति से भरी (शांतिनिकेतन) दिखाई दी जहाँ प्रकृति के साथ जीते हुए बच्चे अपनी स्वाभाविक सृजनात्मक मेधा को और अधिक विकसित कर सकते थे।

बहुते सारे मामलों में टैगोर और महात्मा गांधी शिक्षा के बारे में कमोबेश एक जैसी राय रखते थे। लेकिन दोनों के बीच फर्क भी थे। गांधीजी पश्चिमी सभ्यता और मशीनों व प्रौद्योगिकी की उपासना के कट्टर आलोचक थे। टैगोर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ तत्वों का सम्मिश्रण चाहते थे। उन्होंने शांतिनिकेतन में कला, संगीत और नृत्य के साथ-साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा पर भी जोर दिया।



चित्र - शांतिनिकेतन में एक कक्षा चल रही है, 1930 का दशक।
आस-पास का माहौल देखिए, चारों तरफ पेड़ और खुली जगह है।



इकाई-25 : ब्रिटिश काल में महिलाओं की दशा और जाति व समाज सुधार

परिवर्तन की दिशा में उठते कदम

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही हमें सामाजिक रीति-रिवाजों और मूल्य-मान्यताओं से संबंधित बहस-मुबाहिसे और चर्चाओं का स्वरूप बदलता दिखाई देता है। इसकी एक अहम वजह यह थी कि संचार के नए तरीके विकसित हो रहे थे। पहली बार किताबें, अखबार, पत्रिकाएँ, पर्चे और पुस्तिकाएँ छप रही थीं। ये चीज़ें न केवल पुराने साधनों के मुकाबले सस्ती थीं बल्कि पांडुलिपियों के मुकाबले ज्यादा लोगों की पहुँच में भी थीं।

इस तरह की बहसें अकसर भारतीय समाज सुधारकों और सुधार संगठनों की तरफ से शुरू होती थीं। राजा राममोहन रॉय (1772-1833) इसी तरह के एक समाज सुधारक थे। उन्होंने कलकत्ता में ब्रह्मो सभा के नाम से एक सुधारवादी संगठन बनाया था। (जिसे बाद में ब्रह्मो समाज के नाम से जाना गया)। राममोहन रॉय जैसे लोगों को सुधारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे मानते थे कि समाज में परिवर्तन लाना और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों से छुटकारा पाना जरूरी है। उनका विचार था कि इस तरह के परिवर्तन लाने के लिए लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे पुराने व्यवहार को छोड़कर जीवन का नया ढंग अपनाने के लिए तैयार हों।

राममोहन रॉय देश में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने और महिलाओं के लिए ज्यादा स्वतंत्रता व समानता के पक्षधर थे। उन्होंने इस बारे में लिखा है कि किस तरह महिलाओं को जबरन घरेलू कामों से बाँधकर रखा जाता था, उनकी दुनिया घर और रसोई तक ही सीमित कर दी जाती थी और उन्हें बाहर जाकर पढ़ने-लिखने की इजाजत नहीं दी जाती थी।

विधवाओं की ज़िंदगी में बदलाव लाने की कोशिश

राममोहन रॉय इस बात से काफी दुखी थे कि विधवा औरतों को अपनी ज़िंदगी में भारी कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सती प्रथा के खिलाफ़ मुहिम छेड़ी थी।

राममोहन रॉय संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य कई भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने लेखन के ज़रिए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन ग्रंथों में विधवाओं को जलाने की अनुमति कहीं नहीं दी गई है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी भारतीय परंपराओं और रीति-रिवाजों की आलोचना करने लगे थे। वे राममोहन रॉय के विचारों को सही मानते थे क्योंकि

उनकी एक विद्वान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी। फलस्वरूप, 1829 में सती प्रथा पर पाबंदी लगा दी गई।

प्रसिद्ध सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवा विवाह के पक्ष में प्राचीन ग्रंथों का हवाला दिया था। अंग्रेज़ सरकार ने उनका यह सुझाव मान लिया और 1856 में विधवा विवाह के पक्ष में एक कानून पारित कर दिया। जो विधवाओं के विवाह का विरोध करते थे उन्होंने विद्यासागर का भी विरोध किया और यहाँ तक कि उनका बहिष्कार कर दिया।



चित्र - राजा राममोहन रॉय, रेमब्रांट पील द्वारा बनाया गया चित्र, 1833.

NOTES

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक विधवा विवाह के पक्ष में चलाया जा रहा आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया था। मद्रास प्रेजीडेंसी के तेलुगू भाषी इलाकों में वीरेशलिंगम पंतुलु ने विधवा विवाह के समर्थन में एक संगठन बनाया था। लगभग उसी समय बम्बई में युवा बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने भी विधवा विवाह के प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया। उत्तर में आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी विधवा विवाह का समर्थन किया।

इसके बावजूद विवाह करने वाली विधवा महिलाओं की संख्या काफ़ी कम थी। विवाह करने वाली विधवाओं को समाज में आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता था। इस तरह, रूढ़िवादी तबके इस नए कानून का विरोध करते रहे।

स्त्री शिक्षा

बहुत सारे सुधारकों को लगता था कि महिलाओं की दशा सुधारने के लिए लड़कियों को शिक्षित करना जरूरी है।

कलकत्ता में विद्यासागर और बम्बई में बहुत सारे अन्य सुधारकों ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब इस तरह के प्रारंभिक स्कूल खुले तो बहुत सारे लोग उनसे डरते थे। लोगों को भय था कि स्कूल वाले लड़कियों को घर से निकाल ले जाएँगे और उन्हें घरेलू कामकाज नहीं करने देंगे। स्कूल जाने के लिए लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से दूर रहना चाहिए। फलस्वरूप, उन्नीसवीं सदी में पढ़ने-लिखने वाली ज्यादातर महिलाओं को उनके उदार विचारों वाले पिता या पति की देखरेख में घर पर ही पढ़ाया जाता रहा। कई महिलाओं ने बिना किसी की मदद लिए खुद ही पढ़ना-लिखना सीखा।

उन्नीसवीं सदी के आखिरी हिस्से में आर्य समाज द्वारा पंजाब में और ज्योतिराव फुले द्वारा महाराष्ट्र में लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए।

महिलाओं के बारे में महिलाएँ लिखने लगीं

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारी मुस्लिम महिलाओं ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अहम भूमिका अदा की। जैसे, भोपाल की बेगमों ने अलीगढ़ में लड़कियों के लिए प्राथमिक स्कूल खोला। बेगम रुकैया सखावत हुसैन भी इस दौर की एक प्रभावशाली महिला थीं जिन्होंने कलकत्ता और पटना में मुस्लिम लड़कियों के लिए स्कूल खोले।

उन्नीसवीं शताब्दी में जब लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए तो आमतौर पर माना जाता था कि लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई लड़कों की पढ़ाई-लिखाई से कम सख्त होनी चाहिए। हिंदू महिला विद्यालय ऐसे शुरुआती संस्थानों में से था जहाँ वही शिक्षा दी जाती थी जो उस समय लड़कों को दी जा रही थी।



चित्र - हिंदू महाविद्यालय की छात्राएँ, 1875.

1880 के दशक तक आते-आते भारतीय महिलाएँ विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने लगी थीं। उनमें से कुछ चिकित्सक और कुछ शिक्षिका बन गईं। बहुत सारी महिलाएँ लिखने लगीं और उन्होंने समाज में महिलाओं की स्थिति पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए।

NOTES

संस्कृत की महान विद्वान पंडिता रमाबाई का मानना था कि हिंदू धर्म महिलाओं का दमन करता है। उन्होंने ऊँची जातियों की हिंदू महिलाओं की दुर्दशा पर एक किताब भी लिखी थी। उन्होंने पूना में एक विधवागृह की स्थापना की जहाँ ससुराल वालों के हाथों अत्याचार झेल रही महिलाओं को पनाह दी जाती थी। वहाँ महिलाओं को ऐसी चीज़ें सिखाई जाती थीं जिनके सहारे वे अपनी रोजी-रोटी चला सकें।



चित्र:- पंडिता रमाबाई।

ज़ाहिर है कि इन सब बातों से रूढ़िवादी खेमे के लोग काफ़ी आग-बबूला हुए। उदाहरण के लिए, बहुत सारे हिंदू राष्ट्रवादियों को लगने लगा था कि हिंदू महिलाएँ पश्चिमी तौर-तरीके अपना रही हैं जिससे हिंदू संस्कृति भ्रष्ट होगी और पारिवारिक संस्कार नष्ट हो जाएँगे। रूढ़िवादी मुसलमान भी इन बदलावों के नतीजों को लेकर चिंतित थे।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक खुद महिलाएँ भी सुधारों के लिए बढ़-चढ़ कर प्रयास करने लगी थीं। उन्होंने किताबें लिखीं, पत्रिकाएँ निकालीं, स्कूल और प्रशिक्षण केंद्र खोले तथा महिलाओं को संगठित किया। बीसवीं सदी की शुरुआत से वे महिलाओं को मताधिकार, बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ और शिक्षा के अधिकार के बारे में कानून बनवाने के लिए राजनीतिक दबाव समूह बनाने लगी थीं। उनमें से कुछ महिलाओं ने 1920 के दशक के बाद विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादी और समाजवादी आंदोलनों में हिस्सा भी लिया।

जाति और समाज सुधार

राममोहन रॉय ने जाति व्यवस्था की आलोचना करने वाले एक पुराने बौद्ध ग्रंथ का अनुवाद किया। प्रार्थना समाज भक्ति परंपरा का समर्थक था जिसमें सभी जातियों की आध्यात्मिक समानता पर जोर दिया गया था। जाति उन्मूलन के लिए काम करने के लिए बम्बई में 1840 में परमहंस मंडली का गठन किया गया।

समानता और न्याय की माँग

मध्य भारत में सतनामी आंदोलन की शुरुआत घासीदास ने की, जिन्होंने चमड़े का काम करने वालों को संगठित किया और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए आंदोलन छेड़ दिया। पूर्वी बंगाल में हरिदास ठाकुर के मतुआ पंथ ने चांडाल काश्तकारों के बीच काम किया।

जिसे आज केरल कहा जाता है, वहाँ ऐझावा जाति के श्री नारायण गुरु ने अपने लोगों के बीच एकता का आदर्श रखा। उन्होंने जातिगत भिन्नता के आधार पर लोगों के बीच भेदभाव करने का विरोध किया। उनके अनुसार सारी मानवता की एक ही जाति है।

गुलामगीरी

“निम्न जाति” नेताओं में ज्योतिराव फुले सबसे मुखर नेताओं में से थे। 1827 में जन्मे ज्योतिराव फुले ने ईसाई प्रचारकों द्वारा खोले गए स्कूलों में शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर उन्होंने जाति आधारित समाज में फैले अन्याय के बारे में अपने विचार व्यक्त किए।

NOTES

फूले द्वारा स्थापित किए गए सत्यशोधक समाज नामक संगठन ने जातीय समानता के समर्थन में मुहिम चलाई।

1873 में फूले ने गुलामगीरी (गुलामी) नामक एक किताब लिखी। इससे लगभग दस साल पहले अमेरिकी गृह युद्ध हो चुका था जिसके फलस्वरूप अमरीका में दास प्रथा खत्म कर दी गई थी। फूले ने अपनी पुस्तक उन सभी अमरीकियों को समर्पित की जिन्होंने गुलामों को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष किया था। इस तरह उन्होंने भारत की "निम्न" जातियों और अमरीका के काले गुलामों की दुर्दशा को एक-दूसरे से जोड़ दिया।



चित्र-ज्योतिराव फूले।

सुधारों के लिए संगठित होना

ब्रह्मो समाज

ब्रह्मो समाज की स्थापना 1830 में की गई थी। यह संस्था सभी प्रकार की मूर्ति पूजा और बलि के विरुद्ध थी और इसके अनुयायी उपनिषदों में विश्वास रखते थे। इसके सदस्यों को अन्य धार्मिक प्रथाओं या परंपराओं की आलोचना करने का अधिकार नहीं था। ब्रह्मो समाज ने विभिन्न धर्मों के आदर्शों - खास तौर से हिंदुत्व और ईसाई धर्म - के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए उनके नकारात्मक और सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला।



चित्र - केशव चंद्र सेन ब्रह्मों समाज के मुख्य नेताओं में से एक थे।

डेरोजियो एवं यंग बंगाल

1820 के दशक में हेनरी लुई विवियन डेरोजियो हिंदू कॉलेज, कलकत्ता (कोलकाता) में अध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को आमूल परिवर्तनकारी विचारों से अवगत कराया और उन्हें तमाम तरह की सत्ता पर सवाल खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके द्वारा शुरू की गई यंग बंगाल मूवमेंट में उनके विद्यार्थियों ने परंपराओं और रीति-रिवाजों पर उँगली उठाई, महिलाओं के लिए शिक्षा की माँग की और सोच व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए अभियान चलाया।



चित्र - हेनरी डेरोजियो।

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद

रामकृष्ण मिशन का नाम स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रखा गया था। यह मिशन समाज सेवा और निस्वार्थ श्रम के ज़रिए मुक्ति के लक्ष्य पर ज़ोर देता था।

स्वामी विवेकानंद (1863-1902) जिनका मूल नाम नरेंद्रनाथ दत्त था, उन्होंने श्री रामकृष्ण की सरल शिक्षाओं को अपने प्रतिभाशाली संतुलित आधुनिक विचारधारा से जोड़ कर संपूर्ण विश्व में प्रसारित किया। 1893 में शिकागो में विश्व धर्म संसद में उन्हें सुनने के बाद न्यूयॉर्क हेराल्ड ने विवरण दिया कि, "ऐसे विद्वान

NOTES

राष्ट्र में धर्म प्रचारकों को भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है। वास्तव में, स्वामी विवेकानंद आधुनिक समय के पहले भारतीय थे जिन्होंने विश्वव्यापी स्तर पर वेदांत दर्शन के आध्यात्मिक गौरव को पुनःस्थापित किया, लेकिन उनका उद्देश्य केवल धर्म की व्याख्या करना नहीं था। अपने देशवासियों की निर्धनता और दुर्दशा से उन्हें अतिशय दुःख हुआ। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी सुधार तभी सफल हो सकता है जब जनसमूह की दशा उन्नत हो। अतः भारत के लोगों को उन्होंने 'रसोईघर के धर्म' की संकीर्ण चारदीवारी से बाहर निकालने और राष्ट्र की सेवा में एकजुट होने का आह्वान किया। इस आह्वान द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारंभिक अवस्था में उन्होंने असाधारण योगदान दिया। किंतु राष्ट्रवाद के बारे में उनका भाव संकीर्ण नहीं था। उन्हें यह विश्वास था कि मानवजाति को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उन पर तभी काबू पाया जा सकता है जब विश्व के सभी राष्ट्र एक समान धरातल पर एक साथ आएं। अतः एक सामान्य आध्यात्मिक विरासत के आधार पर उन्होंने युवाओं को एक होने का उपदेश दिया। इस उद्बोधन में वह वास्तव में 'नई विचारधारा के प्रतीक और भविष्य के लिए एक महान शक्ति का स्रोत' बन गए।



चित्र - स्वामी विवेकानंद।

प्रार्थना समाज

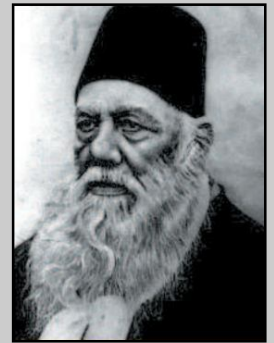
1867 में बम्बई में स्थापित प्रार्थना समाज ने जातीय बंधनों को खत्म करने और बाल विवाह के उन्मूलन के लिए प्रयास किया। प्रार्थना समाज ने महिलाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित किया और विधवा विवाह पर लगी पाबंदी के खिलाफ आवाज़ उठाई। उसकी धार्मिक बैठकों में हिंदू, बौद्ध और ईसाई ग्रंथों पर विचार-विमर्श किया जाता था।

वेद समाज

मद्रास (चेन्नई) में 1864 में वेद समाज की स्थापना हुई। वेद समाज ब्रह्मों समाज से प्रेरित था। वेद समाज ने जातीय भेदभाव को समाप्त करने और विधवा विवाह तथा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए काम किया। इसके सदस्य एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उन्होंने रूढ़िवादी हिंदुत्व के अंधविश्वासों और अनुष्ठानों की सख्त निंदा की।

अलीगढ़ आंदोलन

सैय्यद अहमद खाँ द्वारा 1875 में अलीगढ़ में खोले गए मोहम्मदन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज को ही बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से जाना गया। यहाँ मुसलमानों को पश्चिमी विज्ञान के साथ-साथ विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। अलीगढ़ आंदोलन का शैक्षणिक सुधारों के क्षेत्र में गहरा प्रभाव रहा है।



चित्र 19 - सैय्यद अहमद खाँ

सिंह सभा आंदोलन

सिखों के सुधारवादी संगठन के रूप में सिंह सभाओं की स्थापना 1873 में अमृतसर से शुरू हुई थी। बाद में 1879 में लाहौर में भी सिंह सभा का गठन किया गया। इन सभाओं ने सिख धर्म को अंधविश्वासों, जातीय भेदभाव और ऐसे आचरण जिसे वे गैर-सिख समझते थे, से मुक्त कराने का प्रयास किया। उन्होंने सिखों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जिसमें अकसर आधुनिक ज्ञान के साथ-साथ सिख धर्म के सिद्धांतों को भी पढ़ाया जाता था।



चित्र - खालसा कॉलेज, अमृतसर। 1892 में सिख सभा आंदोलन के नेताओं द्वारा स्थापित किया गया।

इकाई-26 : राष्ट्रीय आंदोलन का उभार : 1870 के दशक से 1947 तक

राष्ट्रवाद का उदय

ब्रिटिश शासन में हुए बदलावों ने लोगों को एक अहम सवाल के बारे में सोचने के लिए विवश कर दिया : यह देश क्या है और किसके लिए है? इसका जवाब धीरे-धीरे इस रूप में सामने आया : भारत का मतलब है यहाँ की जनता-भारत, यहाँ रहने वाले किसी भी वर्ग, रंग, जाति, पंथ, भाषा या जेंडर वाले तमाम लोगों का घर है। यह देश और इसके सारे संसाधन और इसकी सारी व्यवस्था उन सभी के लिए है। इस जवाब के साथ ये अहसास भी सामने आया कि अंग्रेज भारत के संसाधनों व यहाँ के लोगों की ज़िंदगी पर कब्ज़ा जमाए हुए हैं और जब तक यह नियंत्रण खत्म नहीं होता, भारत यहाँ के लोगों का, भारतीयों का नहीं हो सकता।



चित्र - भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान प्रदर्शनकारियों पर आँसू गैस के गोले छोड़ती पुलिस।

राष्ट्रवाद की चेतना 1850 के बाद बने राजनीतिक संगठनों में साफ दिखाई देने लगी थी। 1870 और 1880 के दशकों में बने राजनीतिक संगठनों में यह चेतना और गहरी हो चुकी थी। इनमें से ज्यादातर संगठनों की बागडोर वकील आदि अंग्रेजी शिक्षित पेशेवरों के हाथों में थी। पूना सार्वजनिक सभा, इंडियन एसोसिएशन, मद्रास महाजन सभा, बॉम्बे रेज़िडेंसी एसोसिएशन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि इस तरह के प्रमुख संगठन थे।

ये संगठन इस धारणा से चलते थे कि भारतीय जनता को अपने मामलों के बारे में फैसले लेने की आज़ादी होनी चाहिए।

1870 और 1880 के दशकों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष और ज़्यादा गहरा हुआ। 1878 में आर्म्स एक्ट पारित किया गया जिसके जरिए भारतीयों द्वारा अपने पास हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया। उसी साल वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट भी पारित किया गया जिससे सरकार की आलोचना करने वालों को चुप कराया जा सके। इस कानून में प्रावधान था कि अगर किसी अखबार में कोई 'आपत्तिजनक' चीज छपती है तो सरकार उसकी प्रिंटिंग प्रेस सहित सारी सम्पत्ति को जब्त कर सकती है। 1883 में सरकार ने इल्बर्ट बिल लागू करने का प्रयास किया। इसको लेकर काफी हंगामा हुआ। इस विधेयक में प्रावधान किया गया था कि भारतीय न्यायाधीश भी ब्रिटिश या यूरोपीय व्यक्तियों पर मुकदमे चला सकते हैं ताकि भारत में काम करने वाले अंग्रेज और भारतीय न्यायाधीशों के बीच समानता स्थापित की जा सके। जब अंग्रेजों के विरोध की वजह से सरकार ने यह विधेयक वापस ले लिया तो भारतीयों ने इस बात का काफी विरोध किया। इस घटना से भारत में अंग्रेजों के असली रवैये का पता चलता था।

NOTES

पढ़े-लिखे भारतीयों के अखिल भारतीय संगठन की जरूरत 1880 से ही महसूस की जा रही थी परन्तु इल्बर्ट विधेयक ने इस चाह को और गहरा कर दिया था। 1885 में देश भर के 72 प्रतिनिधियों ने बम्बई में सभा करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का फैसला लिया। संगठन के प्रारम्भिक नेता - दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयब जी, डब्ल्यू. सी. बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, रोमेशचन्द्र दत्त, एस. सुब्रमण्यम अय्यर एवं अन्य - प्रायः बम्बई और कलकत्ता के ही थे। नौरोजी व्यवसायी और प्रचारक थे। वे लंदन में रहते थे और कुछ समय के लिए ब्रिटिश संसद के सदस्य भी रहे। उन्होंने युवा राष्ट्रवादियों का मार्गदर्शन किया। सेवानिवृत्त ब्रिटिश अफसर ए.ओ. ह्यूम ने भी विभिन्न क्षेत्रों के भारतीयों को निकट लाने में अहम भूमिका अदा की और इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ।



चित्र - दादाभाई नौरोजी।

नौरोजी की पुस्तक पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया में ब्रिटिश शासन के आर्थिक परिणामों की बहुत तीखी आलोचना की गई थी।

उभरता हुआ राष्ट्र

अकसर कहा जाता है कि अपने पहले बीस सालों में कांग्रेस अपने उद्देश्य और तरीकों के लिहाज से "मध्यमार्गी" पार्टी थी। इस दौरान कांग्रेस ने सरकार और शासन में भारतीयों को और ज्यादा जगह दिए जाने के लिए आवाज उठाई। कांग्रेस का आग्रह था कि विधान परिषदों को भारतीयों को ज्यादा जगह दी जाए, परिषदों के ज्यादा अधिकार दिए जाएँ और जिन प्रांतों में परिषदें नहीं हैं वहाँ उनका गठन किया जाए। कांग्रेस चाहती थी कि सरकार में भारतीयों को भी ऊँचे पद दिए जाएँ। इस काम के लिए उसने माँग की कि सिविल सेवा के लिए लंदन के साथ-साथ भारत में भी परीक्षा आयोजित की जाए।

शासन व्यवस्था के भारतीयकरण की माँग नस्लवाद के खिलाफ चल रहे आंदोलन का एक हिस्सा थी क्योंकि तब तक ज्यादातर महत्वपूर्ण नौकरियों पर गोरे अफसरों का ही कब्जा था। अंग्रेज आमतौर पर यह मानकर चलते थे कि भारतीयों को जिम्मेदारी भरे पद नहीं दिए जा सकते। क्योंकि अंग्रेज अफसर अपने भारी-भरकम वेतन का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटेन भेज देते थे इसलिए लोगों को उम्मीद थी कि भारतीयकरण से यहाँ की धन-सम्पत्ति भी कुछ हद तक भारत में रुकने लगेगी। भारतीयों की माँग थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग किया जाए, आर्म्स एक्ट को निरस्त किया जाए और अभिव्यक्ति व बोलने की स्वतंत्रता दी जाए।

शुरुआती सालों में कांग्रेस ने कई आर्थिक मुद्दे भी उठाए। उसका कहना था कि भारत में ब्रिटिश शासन की वजह से ही गरीबी और अकाल पड़ रहे हैं। बढ़ते लगान के कारण काश्तकार और जमींदार विपन्न हो गए थे और अनाजों के भारी निर्यात की वजह से खाद्य पदार्थों का अभाव पैदा हो गया था। कांग्रेस की माँग थी कि लगान कम किया जाए, फौजी खर्चों में कटौती की जाए और सिंचाई के लिए ज्यादा अनुदान दिए जाएँ। उसने नमक कर, विदेशों में भारतीय मजदूरों के साथ होने वाले बर्ताव तथा भारतीयों के कामों में दखलअंदाजी करने वाले वन प्रशासन की वजह से वनवासियों की बढ़ती मुसीबतों के बारे में बहुत सारे प्रस्ताव पारित किए। इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे सम्पन्न वर्ग की संस्था होते हुए भी कांग्रेस केवल पेशेवर समूहों, जमींदारों और उद्योगपतियों के हक में ही नहीं बोल रही थी।

मध्यमार्गी नेता जनता को ब्रिटिश शासन के अन्नायपूर्ण चरित्र से अवगत कराना चाहते थे। उन्होंने अखबार निकाले, लेख लिखे और यह साबित करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन देश को आर्थिक

NOTES

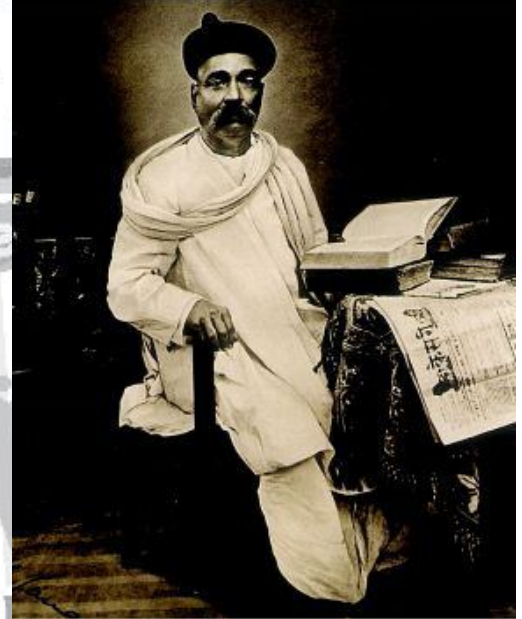
तबाही की ओर ले जा रहा है। उन्होंने अपने भाषणों में ब्रिटिश शासन की निंदा की और जनमत निर्माण के लिए देश के विभिन्न भागों में अपने प्रतिनिधि भेजे। लेकिन मध्यमार्गियों को ये भी लगता था कि अंग्रेज़ स्वतंत्रता व न्याय के आदर्शों का सम्मान करते हैं इसलिए वे भारतीयों की न्यायसंगत माँगों को स्वीकार कर लेंगे। लिहाजा, कांग्रेस का मानना था कि सरकार को भारतीयों की भावना से अवगत कराया जाना चाहिए।

“स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है”

1890 के दशक तक बहुत सारे लोग कांग्रेस के राजनीतिक तौर-तरीकों पर सवाल खड़ा करने लगे थे। बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में बिपिनचंद्र पाल, बाल गंगाधर तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता ज्यादा आमूल परिवर्तनवादी उद्देश्य और पद्धतियों के अनुरूप काम करने लगे थे। उन्होंने “निवेदन की राजनीति” के लिए नरमपंथियों की आलोचना की और आत्मनिर्भरता तथा रचनात्मक कामों के महत्व पर जोर दिया। उनका कहना था कि लोगों को सरकार के “नेक” इरादों पर नहीं बल्कि अपनी ताकत पर भरोसा करना चाहिए : लोगों को स्वराज के लिए लड़ना चाहिए। तिलक ने नारा दिया - “स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।”

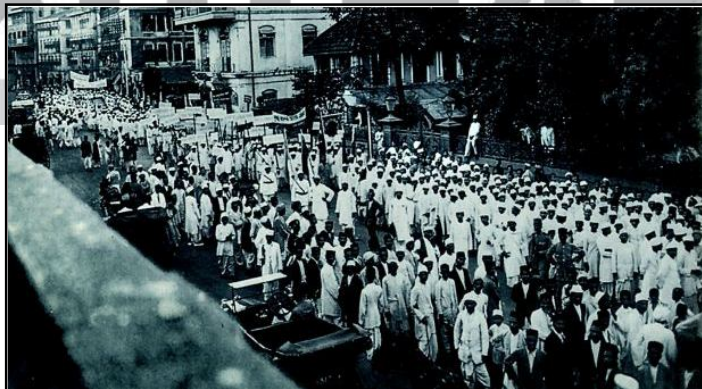
1905 में वायसराय कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर दिया। उस वक्त बंगाल ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा प्रांत था। बिहार और उड़ीसा के कुछ भाग भी उस समय बंगाल का हिस्सा थे। अंग्रेजों का कहना था कि प्रशासकीय सुविधा को ध्यान में रखते हुए बंगाल का बँटवारा करना जरूरी था। परन्तु इस “प्रशासकीय सुविधा” का मतलब क्या था?

इससे किसको “सुविधा” मिलने वाली थी? जाहिर है इसका ताल्लुक अंग्रेज़ अफसरों और व्यापारियों के फायदे से था। लेकिन सरकार ने गैर-बंगाली इलाकों को अलग करने की बजाय उसके पूर्वी भागों को अलग करके असम में मिला दिया। पूर्वी बंगाल को अलग करने के पीछे अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य ये रहा होगा कि बंगाली राजनेताओं के प्रभाव पर अंकुश लगाया जाए और बंगाली जनता को बाँट दिया जाए।



चित्र - बाल गंगाधर तिलक।

मेज़ पर रखे अखबार का नाम देखिए। तिलक के संपादन में निकलने वाला मराठी अखबार - केसरी - ब्रिटिश शासन का कट्टर आलोचक बन गया था।



चित्र - स्वदेशी आंदोलन के दौरान हज़ारों लोग जुलूसों में शामिल होने लगे।

NOTES

बंगाल के विभाजन से देश भर में गुस्से की लहर फैल गई। मध्यमार्गी और आमूल परिवर्तनवादी, कांग्रेस के सभी धड़ों ने इसका विरोध किया। विशाल जनसभाओं का आयोजन किया गया और जुलूस निकाले गए। जनप्रतिरोध के नए-नए रास्ते ढूँढ़े गए। इससे जो संघर्ष उपजा उसे स्वदेशी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। यह आंदोलन बंगाल में सबसे ताकतवर था परन्तु अन्य इलाकों में भी इसकी भारी अनुगूँज सुनाई दी। उदाहरण के लिए, आंध्र के डेल्टा इलाकों में इसे वंदेमातरम् आंदोलन के नाम से जाना जाता था।

स्वदेशी आंदोलन ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया और स्वयं सहायता, स्वदेशी उद्यमों, राष्ट्रीय शिक्षा और भारतीय भाषा के उपयोग को बढ़ावा दिया। स्वराज के लिए आमूल परिवर्तनवाद ने जनता को लामबंद करने और ब्रिटिश संस्थानों व वस्तुओं के बहिष्कार पर जोर दिया। कुछ लोग ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए "क्रांतिकारी हिंसा" के समर्थक थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में कई दूसरी महत्वपूर्ण घटनाएँ भी घटीं। 1906 में मुसलमान जमींदारों और नवाबों के एक समूह ने ढाका में ऑल इंडिया मुस्लिम लीग का गठन किया। लीग ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया। लीग की माँग थी कि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचिका की व्यवस्था की जाए। 1909 में सरकार ने यह माँग मान ली। अब परिषदों में कुछ सीटें मुसलमान उम्मीदवारों के लिए आरक्षित कर दी गईं। जिन्हें मुस्लिम मतदाताओं द्वारा ही चुनकर भेजा जाना था। इससे राजनेताओं में अपने धार्मिक समुदाय के लोगों को अपना राजनीतिक समर्थक बनाने का लालच पैदा हो गया।

1907 में कांग्रेस टूट गई। मध्यमार्गी धड़ा बहिष्कार की राजनीति के विरुद्ध था। इन लोगों का मानना था कि इसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता होती है जो कि सही नहीं है। संगठन टूटने के बाद कांग्रेस पर मध्यमार्गी का दबदबा बन गया जबकि तिलक के अनुयायी बाहर से काम करने लगे। दिसंबर 1915 में दोनों खेमों में एक बार फिर एकता स्थापित हुई। अगले साल कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच ऐतिहासिक लखनऊ समझौते पर दस्तख्त हुए और दोनों संगठनों ने देश में प्रातिनिधिक सरकार के गठन के लिए मिलकर काम करने का फैसला लिया।

क्रांतिकारी हिंसा-समाज में आमूल बदलाव लाने के लिए हिंसा का उपयोग करना।
परिषद-प्रशासकीय, सलाहकारी या प्रातिनिधिक दायित्वों को निभाने वाली मनोनीत या निर्वाचित संस्था।

जनराष्ट्रवाद का उदय

1919 के बाद अंग्रेजों के खिलाफ चल रहा संघर्ष धीरे-धीरे एक जन-आंदोलन में तब्दील होने लगा। किसान, आदिवासी, विद्यार्थी और महिलाएँ बड़ी संख्या में इस आंदोलन से जुड़ते गए। कई बार औद्योगिक मजदूरों ने भी आंदोलन में योगदान दिया। बीस के दशक से कुछ खास व्यावसायिक समूह भी कांग्रेस को सक्रिय समर्थन देने लगे थे। ऐसा क्यों हुआ?

पहले विश्व युद्ध ने भारत की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बदल दी थी। इस युद्ध की वजह से ब्रिटिश भारत सरकार के रक्षा व्यय में भारी इजाफा हुआ था। इस खर्च को निकालने के लिए सरकार ने निजी आय और व्यावसायिक मुनाफे पर कर बढ़ा दिया था। सैनिक व्यय में इजाफे तथा युद्धक आपूर्ति की वजह से जरूरी कीमतों की चीजों में भारी उछाल आया और आम लोगों की ज़िंदगी मुश्किल होती गई। दूसरी ओर व्यावसायिक समूह युद्ध से बेहिसाब मुनाफा कमा रहे थे। इस युद्ध ने औद्योगिक वस्तुओं (जूट के बोरे, कपड़े, पटरियाँ) की माँग बढ़ा दी और अन्य देशों से भारत आने वाले आयात में कमी ला दी थी। इस तरह, युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगों का विस्तार हुआ और भारतीय व्यावसायिक समूह विकास के लिए और अधिक अवसरों की माँग करने लगे।

NOTES

युद्ध ने अंग्रेजों को अपनी सेना बढ़ाने के लिए विवश किया। एक विदेशी युद्ध की खातिर गाँवों में सिपाहियों की भर्ती के लिए दबाव डाला जाने लगा। बहुत सारे सिपाहियों को दूसरे देशों में युद्ध के मोर्चों पर भेज दिया गया। इनमें से बहुत सारे सिपाही युद्ध के बाद यह समझदारी लेकर लौटे कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के लोगों का किस तरह शोषण कर रही हैं। फलस्वरूप ये लोग भी भारत में औपनिवेशिक शासन का विरोध करने लगे।

इसके अलावा, 1917 में रूस में क्रांति हुई। इस घटना के चलते किसानों और मजदूरों के संघर्षों का समाचार तथा समाजवादी विचार बड़े पैमाने पर फैलने लगे थे जिससे भारतीय राष्ट्रवादियों को नई प्रेरणा मिलने लगी।

महात्मा गाँधी का आगमन

इन्हीं हालात में महात्मा गांधी एक जननेता के रूप में सामने आए। गांधीजी 46 वर्ष की उम्र में 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे। वे वहाँ पर नस्लभेदी पाबंदियों के खिलाफ अहिंसक आंदोलन चला रहे थे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी अच्छी मान्यता थी और लोग उनका आदर करते थे। दक्षिण अफ्रीकी आंदोलनों की वजह से उन्हें हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई; गुजराती, तमिल और उत्तर भारतीय; उच्च वर्गीय व्यापारी, वकील और मजदूर, सब तरह के भारतीयों से मिलने-जुलने का मौका मिल चुका था।

महात्मा गांधी ने पहले साल पूरे भारत का दौरा किया। इस दौरान वे यहाँ के लोगों, उनकी जरूरतों और हालात को समझने में लगे रहे। उनके शुरुआती प्रयास चंपारण, खेड़ा और अहमदाबाद के स्थानीय आंदोलनों के रूप में सामने आए। इन आंदोलनों के माध्यम से उनका राजेंद्र प्रसाद और वल्लभ भाई पटेल से परिचय हुआ। 1918 में अहमदाबाद में उन्होंने मिल मजदूरों की हड़ताल का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया।

रोलैट सत्याग्रह

1919 में गांधीजी ने अंग्रेजों द्वारा हाल ही में पारित किए गए रोलैट कानून के खिलाफ सत्याग्रह का आह्वान किया। यह कानून अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूलभूत अधिकारों पर अंकुश लगाने और पुलिस को और ज्यादा अधिकार देने के लिए लागू किया गया था। महात्मा गांधी, मोहम्मद अली जिन्ना तथा अन्य नेताओं का मानना था कि सरकार के पास लोगों की बुनियादी स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने इस कानून को "शैतान की करतूत" और निरंकुशवादी बताया। गांधीजी ने लोगों से आह्वान किया कि इस कानून का विरोध करने के लिए 6 अप्रैल 1919 को अहिंसक विरोध दिवस के रूप में, "अपमान व याचना" दिवस के रूप में मनाया जाए और हड़तालें की जाएँ। आंदोलन शुरू करने के लिए सत्याग्रह सभाओं का गठन किया गया।

रोलैट सत्याग्रह ब्रिटिश सरकार के खिलाफ पहला अखिल भारतीय संघर्ष था हालांकि यह मोटे तौर पर शहरों तक ही सीमित था। अप्रैल 1919 में पूरे देश में जगह-जगह जुलूस निकाले गए और हड़तालों का आयोजन किया गया। सरकार ने इन आंदोलनों को कुचलने के लिए

नाइटहुड-ब्रिटिश राजा/रानी की तरफ से किसी व्यक्ति की अप्रतिम व्यक्तिगत सफलताओं या जनसेवा के लिए दी जाने वाली उपाधि।

दमनकारी रास्ता अपनाया। बैसाखी (13 अप्रैल) के दिन अमृतसर में जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग में किया गया हत्याकांड इसी दमन का हिस्सा था। इस जनसंहार पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पीड़ा और गुस्सा जताते हुए नाइटहुड की उपाधि वापस लौटा दी।

NOTES



चित्र - वह परिसर जहाँ जनरल डायर ने लोगों की सभा पर गोलियाँ चलाई थीं। बाद के इस चित्र में लोग दीवार पर बने गोलियों के निशानों की तरफ इशारा कर रहे हैं।

रॉलट सत्याग्रह के दौरान लोगों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच गहरी एकता बनाए रखने के लिए प्रयास किए। महात्मा गांधी भी यही चाहते थे।

खिलाफत आंदोलन और असहयोग आंदोलन

खिलाफत का मुद्दा इसी तरह का एक ज्वलंत मुद्दा था। 1920 में अंग्रेजों ने तुर्की के सुल्तान (खलीफ़ा) पर बहुत सख्त संधि थोप दी थी। जलियाँवाला बाग हत्याकांड की तरह इस घटना पर भी भारत के लोगों में भारी गुस्सा था। भारतीय मुसलमान यह भी चाहते थे कि पुराने ऑटोमन साम्राज्य में स्थित पवित्र मुस्लिम स्थानों पर खलीफ़ा का नियंत्रण बना रहना चाहिए। खिलाफत आंदोलन के नेता मोहम्मद अली और शौकत अली अब एक सर्वव्यापी असहयोग आंदोलन शुरू करना चाहते थे गांधीजी ने उनके आह्वान का समर्थन किया और कांग्रेस से आग्रह किया कि वह पंजाब में हुए अत्याचारों (जलियाँवाला हत्याकांड) और खिलाफत के मामले में हुए अत्याचार के विरुद्ध मिल कर अभियान चलाएँ और स्वराज की माँग करें।

1921-22 के दौरान असहयोग आंदोलन को और अधिक गति मिली। हजारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए। मोतीलाल नेहरू, सी.आर.दास, सी. राजगोपालाचारी और आसफ़ अली जैसे बहुत सारे वकीलों ने वकालत छोड़ दी। अंग्रेजों द्वारा दी गई उपाधियों को वापस लौटा दिया गया और विधान मंडलों का बहिष्कार किया गया। जगह-जगह लोगों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई। 1920 से 1922 के बीच विदेशी कपड़ों के आयात में भारी गिरावट आ गई। परंतु यह तो आने वाले तूफान की सिर्फ एक झलक थी। देश के ज्यादातर हिस्से एक भारी विद्रोह के मुहाने पर खड़े थे।

1922-1929 की घटनाएँ

महात्मा गांधी हिंसक आंदोलनों के विरुद्ध थे। इसी कारण फरवरी 1922 में जब किसानों की एक भीड़ ने चौरी-चौरा पुलिस थाने पर हमला कर उसे जला दिया तो गांधीजी ने अचानक असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। उस दिन 22 पुलिस वाले मारे गये। किसान इसलिए बेकाबू हो गए थे क्योंकि पुलिस ने उनके शांतिपूर्ण जुलूस पर गोली चला दी थी।

असहयोग आंदोलन खत्म होने के बाद गांधीजी के अनुयायी ग्रामीण इलाकों में रचनात्मक कार्य शुरू करने पर जोर देने लगे। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे अन्य नेताओं की दलील थी



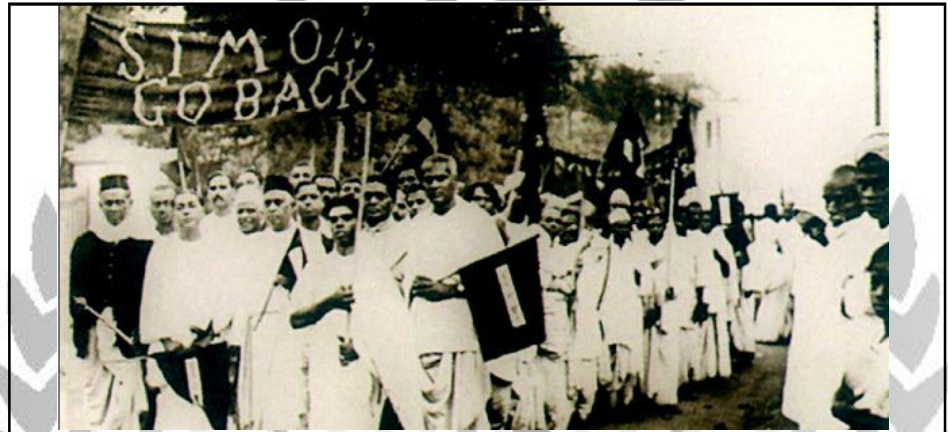
चित्र-चितरंजन दास।

स्वतंत्रता आंदोलन में चितरंजन दास एक मुख्य नेता थे। वह पूर्वी बंगाल में वकील थे। असहयोग आंदोलन में वह काफी सक्रिय रहे।

NOTES

कि पार्टी को परिषद चुनावों में हिस्सा लेना चाहिए और परिषदों के माध्यम से सरकारी नीतियों को प्रभावित करना चाहिए। बीस के दशक के मध्य में गाँवों में किए गए व्यापक सामाजिक कार्यों की बदौलत गांधीवादियों को अपना जनाधार फैलाने में काफी मदद मिली। 1930 में शुरू किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए यह जनाधार काफी उपयोगी साबित हुआ।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और हिंदुओं के संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आर.एस.एस.) की स्थापना बीस के दशक के मध्य की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं। भारत के भविष्य को लेकर इन पार्टियों की सोच में गहरा फर्क रहा है। अपने अध्यापकों की सहायता से उनके विचारों के बारे में पता लगाएँ। उसी दौरान क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भगत सिंह भी सक्रिय थे। इस दशक के आखिर में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित किया। जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 1929 में पारित किए गए इस प्रस्ताव के आधार पर 26 जनवरी 1930 को पूरे देश में "स्वतंत्रता दिवस" मनाया गया।

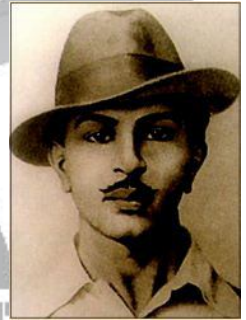


चित्र-साइमन कमीशन का विरोध करते आंदोलनकारी।

1927 में इंग्लैंड में बैठी ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड साइमन की अगुवाई में एक आयोग भारत भेजा। इस आयोग को भारत के राजनीतिक भविष्य का फैसला करना था। इस आयोग में कोई भारतीय प्रतिनिधि नहीं था। इस फैसले की वजह से भारत में भारी असंतोष पैदा हुआ। सभी राजनीतिक संगठनों ने भी आयोग के बहिष्कार का फैसला लिया। जब कमीशन के सदस्य भारत पहुँचे तो प्रदर्शनों के साथ उनका स्वागत किया गया। प्रदर्शनकारियों का नारा था, "साइमन वापस जाओ"।

"बहरे कानों को सुनाने के लिए धमाके की जरूरत होती है। इंकलाब जिंदाबाद!"

भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव और उनके जैसे अन्य क्रांतिकारी राष्ट्रवादी औपनिवेशिक शासन तथा अमीर शोषक वर्गों से लड़ने के लिए मजदूरों और किसानों की क्रांति चाहते थे। इस काम को पूरा करने के लिए उन्होंने 1928 में दिल्ली स्थित फिरोजशाह कोटला में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) की स्थापना की थी। 17 दिसंबर, 1928 को भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद एवं राजगुरु ने लाला लाजपत राय पर लाठीचार्ज करने वाले सांडर्स नामक पुलिस अफसर की हत्या की थी। इसी लाठीचार्ज के कारण बाद में लाजपत राय की मृत्यु हो गई थी।



चित्र-भगत सिंह।

अपने साथी राष्ट्रवादी बी.के. दत्त के साथ भगत सिंह ने 8 अप्रैल 1929 को केन्द्रीय विधान परिषद में बम फेंका था। क्रांतिकारियों ने अपने पर्चे में कहा था कि उनका मकसद किसी की जान लेना नहीं बल्कि "बहरों को सुनाना है" तथा विदेशी सरकार को उसके द्वारा किए जा रहे भयानक शोषण से अवगत कराना है। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को 23 मार्च, 1931 को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय भगत सिंह की आयु सिर्फ 23 साल थी।

NOTES

दांडी मार्च

पूर्ण स्वराज अपने आप आने वाला नहीं था। इसके लिए लोगों को लड़ाई में उतरना था। 1930 में गांधीजी ने ऐलान किया कि वह नमक कानून तोड़ने के लिए यात्रा निकालेंगे। उस समय नमक के उत्पादन और बिक्री पर सरकार का एकाधिकार होता था। महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों का कहना था कि नमक पर टैक्स वसूलना पाप है क्योंकि यह हमारे भोजन का एक बुनियादी हिस्सा होता है। नमक सत्याग्रह ने स्वतंत्रता की व्यापक चाह को लोगों की एक खास शिकायत से जोड़ दिया था और इस तरह अमीरों और गरीबों के बीच मतभेद पैदा नहीं होने दिया।

गांधीजी और उनके अनुयायी साबरमती से 240 किलोमीटर दूर स्थित दांडी तट पैदल चलकर गए और वहाँ उन्होंने तट पर बिखरा नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून का सार्वजनिक रूप से उल्लंघन किया।

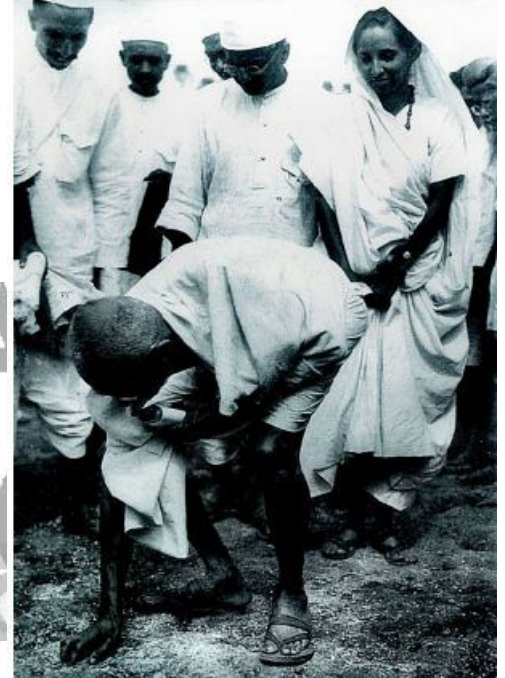
उन्होंने पानी उबालकर भी नमक बनाया। इस आंदोलन में किसानों, आदिवासियों और महिलाओं ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। नमक के मुद्दे पर एक व्यावसायिक संघ ने पर्चा प्रकाशित किया। सरकार ने शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों के निर्मम दमन के ज़रिए आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया। हजारों आंदोलनकारियों को जेल में डाल दिया गया।

भारतीय जनता के साझा संघर्ष के चलते आखिरकार 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट में प्रांतीय स्वायत्तता का प्रावधान किया गया। सरकार ने ऐलान किया कि 1937 में प्रांतीय विधायिकाओं के लिए चुनाव कराए जाएँगे। इन चुनावों के परिणाम आने पर 11 में से 7 प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी।

प्रांतीय स्तर पर 2 साल के कांग्रेसी शासन के बाद सितंबर 1939 में दूसरा विश्व युद्ध छिड़ गया। हिटलर के प्रति आलोचनात्मक रवैये के कारण कांग्रेस के नेता ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में मदद देने को तैयार थे। इसके बदले में वे चाहते थे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जाए। अंग्रेजों ने यह बात नहीं मानी। कांग्रेसी सरकारों ने विरोध में इस्तीफा दे दिया।

भारत छोड़ो आंदोलन और उसके बाद

महात्मा गांधी ने दूसरे विश्व युद्ध के बाद अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन का एक नया चरण शुरू किया। उन्होंने अंग्रेजों को चेतावनी दी कि वे फौरन भारत छोड़ दें। गांधीजी ने भारतीय जनता से आह्वान किया कि वे "करो या मरो" के सिद्धांत पर चलते हुए अंग्रेजों के विरुद्ध अहिंसक ढंग से संघर्ष करें। गांधीजी और अन्य नेताओं को फौरन जेल में डाल दिया गया। इसके बावजूद यह आंदोलन फैलता गया। किसान और युवा इस आंदोलन में बड़ी संख्या में शामिल हुए। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर आंदोलन में कूद पड़े। देश भर में संचार तथा राजसत्ता के प्रतीकों पर हमले हुए। बहुत सारे इलाकों में लोगों ने अपनी सरकार का गठन कर लिया।



चित्र : महात्मा गांधी प्राकृतिक नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून की अवहेलना कर रहे हैं, दांडी 6 अप्रैल 1930.

प्रांतीय स्वायत्तता-संघ के भीतर रहते हुए प्रांतों को तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता देना।

NOTES

सबसे पहले अंग्रेजों ने बर्बर दमन का रास्ता अपनाया। 1943 के अंत तक 90,000 से ज्यादा लोग गिरफ्तार कर लिए गए थे और लगभग 1,000 लोग पुलिस की गोली से मारे गए थे। बहुत सारे इलाकों में हवाई जहाजों से भी भीड़ पर गोलियाँ बरसाने के आदेश दिए गए परंतु आखिरकार इस विद्रोह ने ब्रिटिश राज को घुटने टेकने के लिए मजबूर कर दिया।

बोस और आईएनए

समाजवादी विचार रखने वाले आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी सुभाषचंद्र बोस अहिंसा के गांधीवादी आदर्शों में विश्वास नहीं रखते थे। हालांकि "राष्ट्रपिता" के रूप में गांधीजी का सम्मान करते थे। जनवरी 1941 में उन्होंने बिना किसी को बताए कलकत्ता छोड़ दिया और जर्मनी के रास्ते होते हुए सिंगापुर पहुँच गए। भारत को अंग्रेजों के नियंत्रण से मुक्त कराने के लिए उन्होंने वहाँ आज़ाद हिंद फौज (इंडियन नैशनल आर्मी-आईएनए) का गठन किया। 1944 में आज़ाद हिंद फौज ने इम्फाल और कोहिमा की ओर से भारत में प्रवेश करने का प्रयास किया परंतु यह अभियान सफल नहीं हो पाया। आईएनए के सदस्यों को कैद कर लिया गया और उन पर मुकदमे चलाए गए। देश भर में तमाम तरह के लोगों ने आज़ाद हिंद फौज के सिपाहियों पर चलाए गए मुकदमों के खिलाफ चले संघर्षों में हिस्सा लिया।



चित्र-सुभाषचंद्र बोस।

स्वतंत्रता और विभाजन की ओर

1940 में मुस्लिम लीग ने देश के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी क्षेत्रों में मुसलमानों के लिए "स्वतंत्र राज्यों" की मांग करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में विभाजन या पाकिस्तान का जिक्र नहीं था। कालांतर में मुस्लिम लीग ने मुस्लिमों के लिए स्वायत्त शासन की मांग क्योंकि 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में लीग हिन्दू व मुस्लिमों को अलग-अलग राष्ट्र मानने लगी थी। इस विचार तक पहुँचने में बीस और तीस के दशकों में हिंदुओं और मुसलमानों के कुछ संगठनों के बीच हुए तनावों का भी हाथ रहा होगा। 1937 के प्रांतीय चुनाव संभवतः इससे भी ज्यादा बड़ा कारण रहे। इन चुनावों ने मुस्लिम लीग को इस बात का यकीन दिला दिया था कि यहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक हैं और किसी भी लोकतांत्रिक संरचना में उन्हें हमेशा गौण भूमिका निभानी पड़ेगी। लीग को यह भी भय था कि संभव है कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व ही न मिल पाए। 1937 में मुस्लिम लीग संयुक्त प्रांत में कांग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनाना चाहती थी परंतु कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया जिससे फासला और बढ़ गया।

तीस के दशक में मुस्लिम जनता को अपने साथ लामबंद करने में कांग्रेस की विफलता ने भी लीग को अपना सामाजिक जनाधार फैलाने में मदद दी। चालीस के दशक के शुरुआती सालों में जिस समय कांग्रेस के ज्यादातर नेता जेल में थे, उस समय लीग ने अपना प्रभाव फैलाने के लिए तेज़ी से प्रयास किए। 1945 में विश्व युद्ध खत्म होने के बाद अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस और लीग से बातचीत शुरू कर दी। यह वार्ता असफल रही क्योंकि लीग का कहना था कि उसे भारतीय मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाए। कांग्रेस इस दावे को मंज़ूर नहीं कर सकती थी क्योंकि बहुत सारे मुसलमान अभी भी उसके साथ थे।

1946 में दोबारा प्रांतीय चुनाव हुए। "सामान्य" निर्वाचन क्षेत्रों में कांग्रेस का प्रदर्शन तो अच्छा रहा परंतु मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर लीग को बेजोड़ सफलता मिली। लीग "पाकिस्तान" की माँग पर चलती रही। मार्च 1946 में ब्रिटिश सरकार ने इस माँग का अध्ययन करने और स्वतंत्र भारत के लिए एक सही राजनीतिक बंदोबस्त सुझाने के लिए तीन सदस्यीय परिसंघ भारत भेजा। इस परिसंघ ने सुझाव दिया

NOTES

कि भारत अविभाजित रहे और उसे मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को कुछ स्वायत्तता देते हुए एक ढीले-ढाले महासंघ के रूप में संगठित किया जाए। कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों ही इस प्रस्ताव के कुछ खास प्रावधानों पर सहमत नहीं थे। अब देश का विभाजन अवश्यंभावी था।



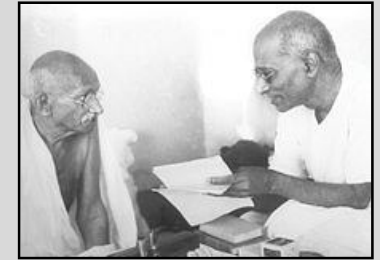
चित्र 16 - मौलाना आजाद तथा कांग्रेस कार्यकारी समिति के अन्य सदस्य, सेवाग्राम, 1942

मौलाना आजाद का जन्म मक्का में हुआ था। उनके पिता बंगाली और माँ अरब मूल की थीं। बहुत सारी भाषाओं के जानकार आजाद इस्लाम के विद्वान और वहादते-दीन यानी सभी धर्मों की बुनियादी एकता के हिमायती

थे। गांधीवादी आंदोलनों में हमेशा सक्रिय रहने वाले और हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्के हिमायती थे। उन्होंने जिन्ना के दो-राष्ट्र सिद्धांत का विरोध किया था।

चित्र 17 - गांधी-जिन्ना वार्ताओं से पहले गांधीजी के साथ बात करते चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, 1944

वयोवृद्ध राष्ट्रवादी और दक्षिण में नमक सत्याग्रह के नेता सी. राजगोपालाचारी 1946 में बनी अंतरिम सरकार के सदस्य थे और स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर जनरल रहे। उन्हें लोग राजाजी के नाम से जानते थे।

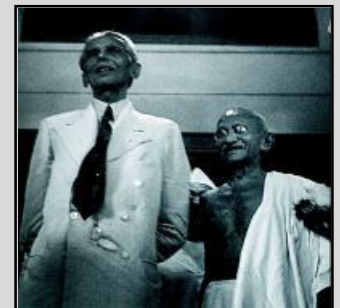


चित्र 18 - सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 1945-47 के दौरान आजादी के लिए चली वार्ताओं में एक अहम भूमिका अदा की थी।

पटेल नादियाड़, गुजरात के एक गरीब किसान-व्यवसायी परिवार से थे। 1918 के बाद स्वतंत्रता आंदोलन की अगली कतार में रहने वाले पटेल 1931 में कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे।

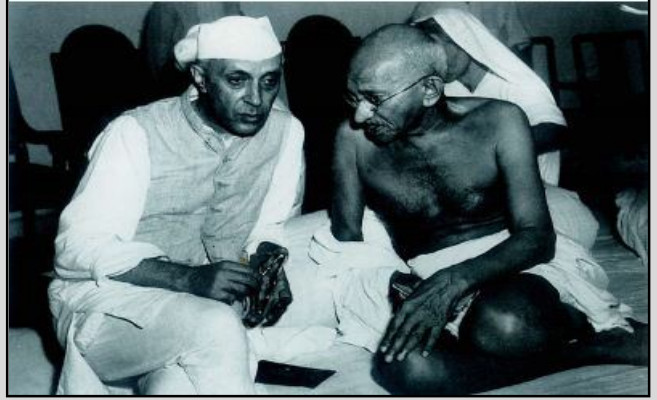
चित्र 19 - महात्मा गांधी के साथ मोहम्मद अली जिन्ना, सितंबर 1944

1920 तक हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थन में सक्रिय रहे जिन्ना ने लखनऊ समझौता करवाने में एक अहम भूमिका अदा की थी। 1934 के बाद उन्होंने मुस्लिम लीग को पुनर्जीवित किया और अंत में वे पाकिस्तान की स्थापना के सबसे मुख्य प्रवक्ताओं की कतार में जा पहुँचे।



NOTES

चित्र - जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन से पहले महात्मा गांधी से बात कर रहे हैं, जुलाई 1946



गांधीजी के शिष्य, कांग्रेस समाजवादी और अंतर्राष्ट्रीय-तावादी विचार रखने वाले नेहरू राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्र भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य शिल्पियों में से थे।



चित्र - खान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत के प्रमुख पश्तून नेताओं में से एक थे। इस चित्र में अपने सहयोगियों के साथ बिहार में एक शांति यात्रा में हिस्सा ले रहे हैं, मार्च 1947.

ग़फ़्फ़ार खान को बादशाह ख़ान के नाम से भी जाना जाता है। वह खुदाई खिदमतगार संगठन के संस्थापक थे। यह उनके प्रांत के पठानों में लोकप्रिय शक्तिशाली अहिंसक आंदोलन था। बादशाह ख़ान भारत विभाजन के सख्त खिलाफ थे। उन्होंने 1947 में इस फैसले पर मंजूरी देने के लिए कांग्रेस के अपने साथियों की भर्त्सना की थी।

कैबिनेट मिशन की इस विफलता के बाद मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की अपनी माँग मनवाने के लिए जनांदोलन शुरू करने का फैसला लिया। उसने 16 अगस्त 1946 को "प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस" मनाने का आह्वान किया। इसी दिन कलकत्ता में दंगे भड़क उठे जो कई दिन चलते रहे। इन दंगों में हजारों लोग मारे गए। मार्च 1947 तक उत्तर भारत के विभिन्न भागों में भी हिंसा फैल गई थी।

कई लाख लोग मारे गए। असंख्य महिलाओं को विभाजन की इस हिंसा में अकथनीय अत्याचारों का सामना करना पड़ा। करोड़ों लोगों को अपने घर-बार छोड़कर भागना पड़ा। अपने मूल स्थानों से बिछड़कर ये लोग रातोंरात अजनबी ज़मीन पर शरणार्थी बनकर रह गए। विभाजन का नतीजा यह भी हुआ कि भारत की शक्ति-सूरत बदल गई, उसके शहरों का माहौल बदल गया और एक नए देश-पाकिस्तान-का जन्म हुआ। इस तरह ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता का यह आनंद विभाजन की पीड़ा और हिंसा के साथ हमारे सामने आया।



चित्र - हिंसाग्रस्त पंजाब से आए शरणार्थी आश्रय और भोजन की तलाश में दिल्ली में इकट्ठा हो रहे हैं।

नए देश-पाकिस्तान-का जन्म हुआ। इस तरह ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता का यह आनंद विभाजन की पीड़ा और हिंसा के साथ हमारे सामने आया।



इकाई-27 : स्वतंत्रता के बाद भारत

एक नया और खंडित राष्ट्र

अगस्त 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तो उसके सामने कई बड़ी चुनौतियाँ थीं। बँटवारे की वजह से 80 लाख शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गए थे। इन लोगों के लिए रहने का इंतजाम करना और उन्हें रोज़गार देना जरूरी था। इसके बाद रियासतों की समस्या थी। तकरीबन 500 रियासतें राजाओं या नवाबों के शासन में चल रही थीं। इन सभी को नए राष्ट्र में शामिल होने के लिए तैयार करना एक टेढ़ा काम था। शरणार्थियों और रियासतों की समस्या पर फौरन ध्यान देना लाज़िमी था। लंबे दौर में इस नवजात राष्ट्र को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था भी विकसित करनी थी जो यहाँ के लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को सबसे अच्छी तरह व्यक्त कर सके।



चित्र - इलाहाबाद में महात्मा गांधी की अस्थियों का विसर्जन, फरवरी 1948

अभी स्वतंत्रता को छः महीने भी नहीं हुये थे कि सारा राष्ट्र गहरे शोक में पड़ गया। 30 जनवरी 1948 को कट्टर विचारों वाले नाथूराम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। वह गांधीजी के इस दृढ़ विश्वास से मतभेद रखता था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को सदभावना बनाते हुये इकट्ठे रहना चाहिए। उसी शाम हक्के-बक्के राष्ट्र ने आकाशवाणी पर जवाहरलाल नेहरू का भावुक भाषण सुना "दोस्तो, साथियो, हमारी ज़िंदगी की रोशनी बुझ गई और चारों तरफ अँधेरा है... हमारे प्रिय नेता... राष्ट्रपिता अब नहीं रहे।

1947 में भारत की आबादी काफी बड़ी थी - तकरीबन 34.5 करोड़। यह आबादी भी आपस में बँटी हुई थी। इसमें ऊँची जाति और नीची जाति बहुल हिंदू समुदाय और अन्य धर्मों को मानने वाले भारतीय थे। इस विशाल देश के लोग तरह-तरह की भाषाएँ बोलते थे, उनके पहनावों में भारी फर्क था, उनके खान-पान और काम-धंधों में भारी विविधता थी। इतनी विविधता वाले लोगों को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में कैसे संगठित किया जा सकता था?

एकता की समस्या के साथ ही विकास भी एक बड़ी समस्या थी। स्वतंत्रता के समय भारत की एक विशाल संख्या गाँवों में रहती थी। आजीविका के लिए किसान और काश्तकार बारिश पर निर्भर रहते थे। यही स्थिति अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्रों की थी। अगर फसल चौपट हो जाती तो नाई, बढई, बुनकर और अन्य कारीगरों की आमदनी पर भी संकट पैदा हो जाता था। शहरों में फैक्ट्री मज़दूर भीड़ भरी झुग्गी बस्तियों में रहते थे जहाँ शिक्षा या स्वास्थ्य सुविधाओं की खास व्यवस्था नहीं थी। इस विशाल आबादी को गरीबी के चंगुल से निकालने के लिए न केवल खेती की उपज बढ़ाना जरूरी था बल्कि नए उद्योगों का निर्माण भी करना था जहाँ लोगों को रोज़गार मिल सके।

NOTES

एकता और विकास की प्रक्रियाओं को साथ-साथ चलना था। अगर भारत के विभिन्न तबकों के बीच मौजूद मतभेदों को दूर न किया जाता तो वे हिंसक और बहुत खतरनाक टकरावों का रूप ले सकते थे। लिहाजा ऐसे टकराव देश के लिए महँगे भी पड़ते थे। कहीं ऊँची जाति और नीची जाति के बीच, कहीं हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तो कहीं किसी और वजह से तनाव की आशंका बनी हुई थी। दूसरी तरफ, अगर आर्थिक विकास के लाभ आबादी के बड़े हिस्से को नहीं मिलते हैं तो और ज़्यादा भेदभाव पैदा हो सकता था। ऐसी स्थिति में अमीर और गरीब, शहर और देहात, संपन्न और पिछड़े इलाकों का फर्क पैदा हो सकता था।

नए संविधान की रचना

दिसंबर 1946 से नवंबर 1949 के बीच तकरीबन 300 भारतीयों ने देश के राजनीतिक भविष्य के बारे में लंबा विचार-विमर्श किया। यद्यपि इस “संविधान सभा” की बैठकें नई दिल्ली में आयोजित की गई थीं परंतु इसके सदस्य पूरे देश में फैले हुए थे और वे बहुत सारी राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि थे। इन्हीं चर्चाओं के फलस्वरूप भारत का संविधान लिखा गया जिसे 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया।

हमारे संविधान की एक खासियत यह थी कि उसमें सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार का प्रावधान किया गया था। इसका मतलब यह था कि 21 साल से ज़्यादा उम्र के सभी भारतीयों को प्रांतीय और राष्ट्रीय चुनावों में वोट देने का अधिकार था। यह एक क्रांतिकारी कदम था। इससे पहले कभी भी भारतीयों को खुद अपने नेता चुनने का अधिकार नहीं मिला था। ब्रिटेन और अमरीका जैसे अन्य देशों की जनता को यह अधिकार टुकड़ों-टुकड़ों में ही दिया गया था। वहाँ सबसे पहले संपन्न पुरुषों को वोट देने का अधिकार मिला। इसके बाद शिक्षित पुरुषों को भी मताधिकार दिया गया।

सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार- सभी वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार

मज़दूर पुरुषों को काफी लंबे संघर्ष के बाद यह अधिकार मिला। महिलाओं को सबसे अंत में मताधिकार दिया गया। वह भी लंबे जुझारू संघर्ष के बाद। इसके विपरीत, भारत में आज़ादी के कुछ ही समय बाद ये फैसला ले लिया गया था कि देश के सभी स्त्री-पुरुषों को यह अधिकार दिया जाएगा भले ही वे अमीर हों या गरीब, पढ़े-लिखे हों या अनपढ़ हों।

संविधान की दूसरी विशेषता यह थी कि उसमें तमाम जातियों, धर्मों या किसी भी तरह की पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले सभी नागरिकों को कानून की नज़र में समान माना गया।



चित्र 2- संविधान के उद्देश्यों पर रोशनी डालने वाले प्रस्ताव को पढ़ते हुए जवाहरलाल नेहरू।

NOTES

मुसलमानों के अलावा भारत में सिख और ईसाइयों की भी बड़ी संख्या थी। इसके अलावा पारसी, जैन तथा अन्य धर्मों के लोग भी थे। नए संविधान में इन सभी समुदायों के लोगों को भी वही अधिकार दिए गए जो अधिकार हिंदुओं को दिए गए थे। चाहे सरकारी या निजी क्षेत्र की नौकरियों का सवाल हो या कानून से संबंधित कोई मामला हो, इन सभी समुदायों के लोगों को भी वैसे ही अवसर देने का प्रावधान किया गया जैसे हिंदुओं को दिए जा रहे थे।

संविधान की तीसरी विशेषता यह थी कि इसमें समाज के निर्धन और सबसे वंचित तबकों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई थी। "भारत के सम्मान" को "कलंकित" करने वाली छुआछूत के चलन को खत्म कर दिया गया।

एक लंबी बहस के बाद संविधान सभा ने यह भी तय किया कि विधायिका की कुछ सीटें और सरकारी नौकरियों में कुछ हिस्सा "निचली जातियों" के सदस्यों के लिए आरक्षित किया जाए।

आदिवासियों या अनुसूचित जनजातियों को भी विधायिका और नौकरियों में आरक्षण दिया गया।

आदिवासी आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं और शिक्षा से वंचित थे। उनकी ज़मीन और जंगलों पर समुदाय से बाहर के ताकतवर लोगों का कब्जा होता जा रहा था। संविधान से उन्हें जो नए अधिकार मिले उनका उद्देश्य इस स्थिति में सुधार लाने का था।

संविधान सभा के सदस्यों ने केंद्र और राज्य सरकारों की शक्तियों और अधिकारों के बँटवारे पर भी लंबी चर्चा की। कुछ लोगों का मानना था कि केंद्र के हित सबसे महत्वपूर्ण होने चाहिए। उनका कहना था कि यदि केंद्र मज़बूत होगा तो "तभी वह पूरे देश की उन्नति के लिए सोचने और योजना बनाने में सक्षम होगा।" कई अन्य सदस्यों का मानना था कि राज्यों को ज्यादा स्वायत्तता और आज़ादी मिलनी चाहिए।

इन मतभेदों को दूर करने के लिए संविधान में विभिन्न विषयों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया - केंद्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। केंद्रीय सूची में कराधान, रक्षा और विदेशी मामलों आदि को रखा गया। ये ऐसे विषय थे जो केवल केंद्र सरकार के अधीन थे। राज्य सूची में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे विषय लिए गए जिनकी ज़िम्मेदारी मुख्य रूप से राज्य सरकारों के ऊपर थी। समवर्ती सूची में वन एवं कृषि आदि ऐसे विषयों को रखा गया जिनके बारे में केंद्र और राज्य सरकारें, दोनों संयुक्त रूप से फैसला ले सकते थे।

संविधान सभा में भाषा के सवाल पर बड़ी तीखी बहस हुई। बहुत सारे लोगों का मानना था कि अंग्रेज़ों के साथ अंग्रेज़ी भाषा को भी विदा कर दिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि अंग्रेज़ी की जगह हिंदी को अपनाया जाना चाहिए। परन्तु जो लोग हिंदी नहीं बोलते थे उनकी राय अलग थी। संविधान सभा में बोलते हुए टी.टी. कृष्णामाचारी ने "दक्षिण के लोगों की ओर से चेतावनी" देते हुए कहा कि अगर उन पर हिंदी थोपी गई तो वहाँ के बहुत सारे लोग भारत से अलग हो जाएँगे। इस विवाद से बचने के लिए आखिरकार बीच का रास्ता निकाल लिया गया। संविधान निर्माताओं ने हिंदी को भारत की "राजभाषा" का दर्जा दिया जबकि अदालतों, सेवाओं, विभिन्न राज्यों के बीच संचार आदि के लिए अंग्रेज़ी के इस्तेमाल का फैसला लिया गया।

संविधान की रचना में बहुत सारे भारतीयों ने योगदान दिया था। इनमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान संभवतः डॉ. बी.आर. अंबेडकर का था जो संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे और जिनके

NOTES

नेतृत्व में दस्तावेज को अंतिम रूप दिया गया था। संविधान सभा के सामने अपने आखिरी भाषण में डॉ. अंबेडकर ने कहा कि राजनीतिक लोकतंत्र के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र भी जरूरी है। यदि लोगों को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाता है तो इससे अमीर-गरीब या ऊँची और नीची जातियों का फासला अपने-आप खत्म नहीं हो जाएगा।

राज्यों का गठन कैसे किया जाए?

1920 के दशक में स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य पार्टी - भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस - ने आश्वासन दिया था कि जैसे ही देश आज़ाद हो जाएगा, प्रत्येक बड़े भाषायी समूह का अपना अलग प्रांत होगा। आज़ादी मिलने के बाद कांग्रेस ने इस आश्वासन को पूरा करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। क्योंकि भारत धर्म के आधार पर बँट चुका था इसलिए महात्मा गांधी की तमाम इच्छाओं और प्रयासों के बावजूद यह स्वतंत्रता एक राष्ट्र को नहीं बल्कि दो राष्ट्रों को मिल रही थी। देश विभाजन के फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुए भीषण दंगों में 10 लाख से ज्यादा लोग मारे गए थे। ऐसे में यह चिंता स्वाभाविक थी कि क्या हमारा देश भाषा के आधार पर इस तरह के और बँटवारे झेल सकता था?

क्योंकि कांग्रेस के नेता अपने वायदे से पीछे हट रहे थे इसलिए जगह-जगह असंतोष पैदा हुआ। कन्नड़भाषी, मलयालम भाषी, मराठी भाषी, सभी अपने-अपने राज्य के इंतज़ार में थे। सबसे गहरा असंतोष मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी ज़िलों में दिखाई दिया। जब 1952 के आम चुनावों में नेहरू वहाँ चुनाव प्रचार के लिए गए तो लोगों ने उन्हें काले झंडे दिखाए और "हमें आंध्र चाहिए" के नारे लगाए। उसी साल अक्टूबर में वयोवृद्ध गांधीवादी पोर्टी श्रीरामुलू तेलुगूभाषियों के हितों की रक्षा के लिए आंध्र राज्य के गठन की माँग करते हुए भूख हड़ताल पर बैठ गए। जैसे-जैसे अनशन आगे बढ़ा, बहुत सारे लोग श्रीरामुलू के समर्थन में आगे आने लगे। जगह-जगह लोग हड़ताल करने लगे और जुलूस निकालने लगे।



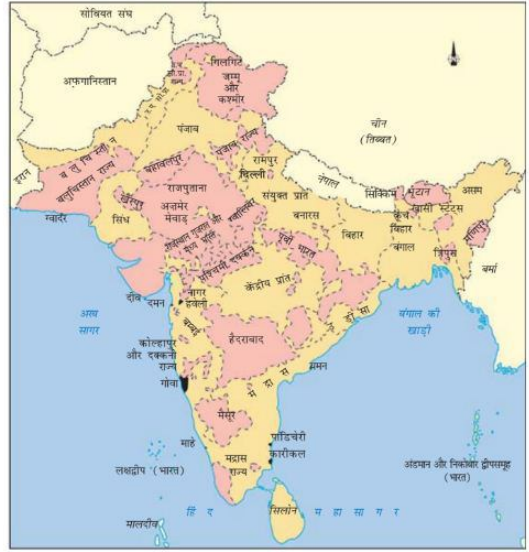
चित्र 4 - गांधीवादी नेता पोर्टी श्रीरामुलू। तेलुगूभाषियों के लिए अलग राज्य की माँग करते हुए अनशन पर ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

58 दिन के अनशन के बाद 15 दिसंबर 1952 को पोर्टी श्रीरामुलू का देहांत हो गया। जैसा कि एक अखबार ने लिखा था, "श्रीरामुलू के देहांत की खबर ने पूरे आंध्र को अस्त-व्यस्त कर डाला।" विरोध इतना व्यापक और गहरा था कि केंद्र सरकार को आखिरकार यह माँग माननी पड़ी। इस तरह, 1 अक्टूबर 1953 को आंध्र के रूप में नए राज्य का गठन हुआ, जो बाद में आंध्र प्रदेश बना।

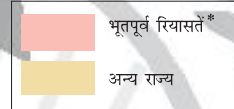
आंध्र की स्थापना के बाद अन्य भाषायी समुदाय भी अपने-अपने अलग राज्यों की माँग करने लगे। फलस्वरूप, एक राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया गया जिसने 1956 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप दी। आयोग ने सुझाव दिया कि असमिया, बंगला, उड़िया, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगू भाषियों के लिए अलग-अलग प्रांतों का गठन करने के उद्देश्य से जिलों और प्रांतों की सीमा को पुनः तय किया जाए। उत्तर भारत के विशाल हिंदी भाषी क्षेत्र को बाँट कर कई राज्य बना दिए गए। कुछ समय बाद, 1960 में बम्बई प्रांत को मराठी और गुजराती भाषी, दो अलग राज्यों में बाँट दिया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन हुआ और हरियाणा को अलग राज्य के रूप में मान्यता दी गई। पंजाब में पंजाबी भाषियों (जिनमें से ज्यादातर सिख थे) और हरियाणा में हरियाणवी या हिंदी बोलने वालों की बहुतायत थी।

NOTES

भाषायी राज्यों का गठन



चित्र 5 (क)
14 अगस्त 1947 से पहले भारतीय प्रांत और रियासतें।



* जब रियासतों के शासक भारत अथवा पाकिस्तान से जुड़ने के लिए मान गये या फिर हरा दिये गये तो उनकी रियासतें खत्म हो गईं। परन्तु 31 अक्टूबर 1956 तक कई ऐसी रियासतों को प्रशासनिक इकाइयों के रूप में बनाये रखा गया। इसीलिए 1947-48 से 31 अक्टूबर 1956 को कलाविधि के लिए इन्हें भूतपूर्व रियासत कहा गया है।

चित्र 5 (ख) - 1 नवंबर 1956 से पहले भारतीय राज्य।

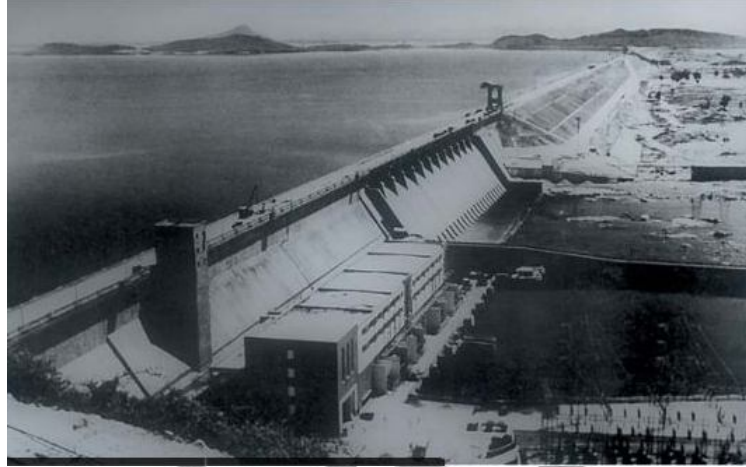
उ गतिविधि

चित्र 5 (क), 5 (ख) और 5 (ग) को देखें। ध्यान दें कि चित्र 5 (ख) में रियासतें दिखाई नहीं दे रही हैं। उन राज्यों को पहचानें जिनका 1956 और बाद में गठन किया गया था। उन राज्यों की कौन सी भाषाएँ थीं?



चित्र 5 (ग) - 1975 में भारतीय राज्य।

NOTES



चित्र 6 - महानदी के पानी को रोकने के लिए बनाया गया पुल।

स्वतंत्र भारत में पुल और बाँध विकास का प्रतीक बन गए थे।

विकास की योजनाएँ बनाना

भारत और भारतीयों को गरीबी से मुक्त कराने और आधुनिक तकनीकी एवं औद्योगिक आधार निर्मित करना नए भारत का एक बड़ा लक्ष्य था। 1950 में सरकार ने आर्थिक विकास के लिए नीतियाँ बनाने और उनको लागू करने के लिए एक 'योजना आयोग' का गठन किया। इस बारे में ज्यादातर सहमति थी कि भारत 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' के रास्ते पर चलेगा। यहाँ राज्य और निजी क्षेत्र, दोनों ही उत्पादन बढ़ाने और रोजगार पैदा करने में महत्वपूर्ण और परस्पर पूरक भूमिका अदा करेंगे। किस क्षेत्र की क्या भूमिका होगी - अर्थात् कौन से उद्योग सरकार द्वारा और कौन से उद्योग बाजार द्वारा यानी निजी उद्योगपतियों द्वारा लगाए जाएँगे, विभिन्न क्षेत्रों और राज्यों के बीच किस तरह का संतुलन बनाया जायेगा इन सबको परिभाषित करना योजना आयोग का काम था।



चित्र 8 - भिलाई इस्पात संयंत्र में जवाहरलाल नेहरू।

1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार की गई। इस योजना में इस्पात जैसे भारी उद्योगों और विशाल बाँध परियोजनाओं आदि पर सबसे ज्यादा जोर दिया गया। ये काम सरकारी नियंत्रण के अंतर्गत रखे गए। भारी उद्योगों पर यह जोर और अर्थव्यवस्था पर राज्य नियंत्रण की कोशिशें अगले कुछ दशकों तक आर्थिक नीति को प्रभावित करती रही।

भिलाई स्थित इस्पात कारखाने की स्थापना 1959 में तत्कालीन सोवियत संघ की सहायता से की गई थी। छत्तीसगढ़ के पिछड़े ग्रामीण इलाके में स्थित यह कारखाना आधुनिक भारत के विकास का एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गया था।

NOTES

एक स्वतंत्र विदेश नीति की चाह

जिस समय भारत को आज़ादी मिली तब तक दूसरे विश्व युद्ध की तबाही को कुछ ही समय हुआ था। 1945 में गठित की गई नई अंतर्राष्ट्रीय संस्था - संयुक्त राष्ट्र - अभी अपने शैशवकाल में थी। 1950 और 1960 के दशकों में शीत युद्ध का उदय हुआ, शक्तिशाली देशों के बीच प्रतिद्वंद्विता पैदा हुई और अमरीका व सोवियत संघ के बीच वैचारिक टकराव गहरे होते गए। फलस्वरूप दोनों देशों ने अपने-अपने समर्थक देशों को मिलाकर सैनिक गठबंधन बना लिए। यही समय था जब औपनिवेशिक



चित्र - संयुक्त राष्ट्र में जवाहरलाल नेहरू और कृष्णा मेनन।

साम्राज्य ध्वस्त हो रहे थे और बहुत सारे देश स्वतंत्रता प्राप्त कर रहे थे। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू नवस्वाधीन भारत के विदेश मंत्री भी थे। उन्होंने इस संदर्भ में स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की रूपरेखा तैयार की। गुटनिरपेक्ष आंदोलन इसी विदेश नीति का मूल आधार था।

मिस्र, यूगोस्ला-विया, इंडोनेशिया, घाना और भारत के राजनेताओं के नेतृत्व में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में दुनिया के देशों से आह्वान किया कि वे इन दोनों मुख्य सैनिक गठबंधनों में शामिल न हों। परंतु गठबंधनों से दूर रहने की इस नीति का मतलब "अलग-थलग" या "तटस्थ" रहना नहीं था। अलग-थलग रहने का मतलब था कि विभिन्न देश अंतर्राष्ट्रीय मामलों से दूर रहें जबकि भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश तो अमेरिकी और सोवियत गठबंधनों के बीच सुलह-सफाई में एक अहम भूमिका अदा कर रहे थे। इन देशों ने



चित्र 10 - बांडुंग, इंडोनेशिया में एशिया और अफ्रीका के नेताओं की बैठक, 1955

युद्ध को टालने के प्रयास किए और अकसर युद्ध के खिलाफ मानवतावादी और नैतिक रवैया अपनाया। परंतु विभिन्न कारणों से भारत सहित बहुत सारे गुटनिरपेक्ष देशों को युद्ध का सामना करना पड़ा।

1970 के दशक तक बहुत सारे देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य बन चुके थे।

कृष्णा मेनन ने 1952 से 1962 के बीच संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि मंडलों का नेतृत्व किया और गुटनिरपेक्षता की नीति के पक्ष में आवाज़ उठाई।

राष्ट्र के साठ वर्षों के बाद

भारत अभी एक है और लोकतांत्रिक राह पर चल रहा है। यह गर्व करने लायक उपलब्धि है। बहुत सारे विदेशी प्रेक्षकों का मानना था कि भारत एक देश के रूप में ज़्यादा समय तक टिक नहीं पाएगा। उन्हें लगता था कि भारत का प्रत्येक क्षेत्र या भाषायी समूह अपने अलग राष्ट्र की माँग करेगा और उसके टुकड़े-

NOTES

टुकड़े हो जाएँगे। कुछ विशेषज्ञों को लगता था कि भारत सैनिक शासन के कब्जे में आ जाएगा। परंतु ये सारी आशंकाएँ निर्मूल साबित हुई हैं। आज़ादी से अब तक 16 आम चुनाव हो चुके हैं और राज्यों तथा स्थानीय निकायों के लिए सैकड़ों चुनाव हो चुके हैं। हमारे यहाँ स्वतंत्र प्रेस है और एक स्वतंत्र न्यायपालिका है। इसके अलावा, यहाँ के लोगों की भाषायी विविधता या धार्मिक विविधता भी राष्ट्रीय एकता की राह में रुकावट नहीं बन पाई है।

परंतु दूसरी ओर यह भी सच है कि आज भी हमारे देश में गहरे मतभेद बने हुए हैं।

संविधान में दिए गए धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के बावजूद बहुत सारे राज्यों में विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच कई बार टकराव हो चुके हैं। और सबसे परेशानी की बात यह है कि इस बीच अमीर और गरीब का फासला लगातार बढ़ता गया है। भारत



के कुछ भागों और कुछ समूहों को आर्थिक विकास से भारी फायदा हुआ है। वे आलीशान घरों में रहते हैं, मँहगे रेस्टोरेंट्स में खाना खाते हैं अपने बच्चों को मँहगे निजी स्कूलों में भेजते हैं और विदेशों में छुट्टियों पर बेहिसाब पैसा उड़ाते हैं। दूसरी ओर बहुत सारे लोग आज भी गरीबी की रेखा से नीचे हैं। शहरी झुग्गी बस्तियों या बंजर देहात में रहने वाले ऐसे बहुत सारे लोग अपने बच्चों को स्कूल भी नहीं भेज पाते।

हमारा संविधान कानून की नज़र में सबको बराबर मानता है लेकिन असली ज़िंदगी में कुछ भारतीय औरों के मुकाबले ज्यादा बराबर हैं। स्वतंत्रता के समय तय की गई कसौटियों के हिसाब से देखें तो भारतीय गणतंत्र बहुत बड़ी सफलता का दावा नहीं कर सकता। लेकिन यह भी सच है कि वह विफल नहीं हुआ है।

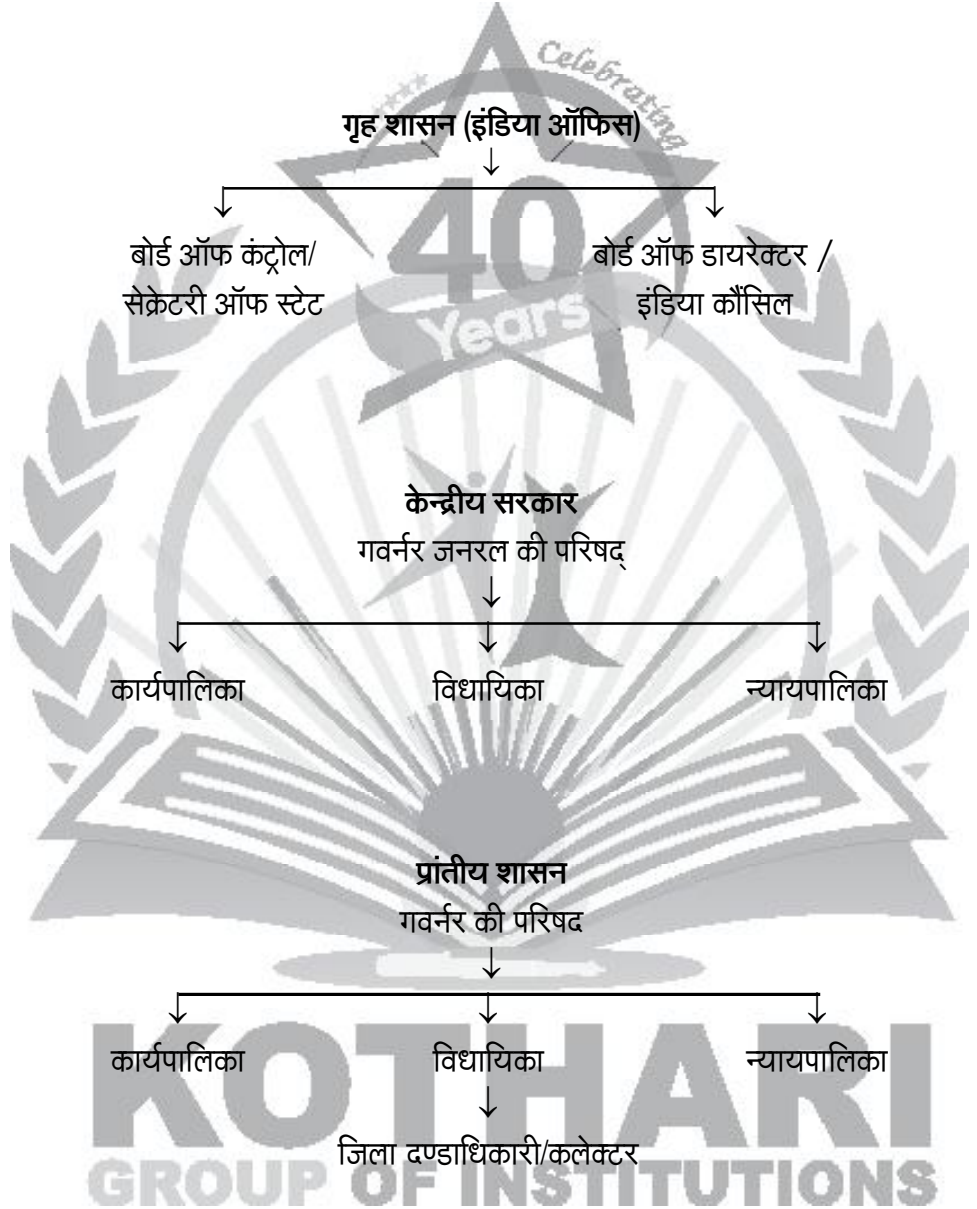
■■■

KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS

NOTES

सार-संक्षेप

आधुनिक भारत (भारत का स्वतंत्रता संग्राम-1)



NOTES

संवैधानिक विकास

अधिनियम का नाम	गृह शासन (भारत)	केन्द्रीय शासन	प्रांतीय शासन	विविध
रेग्युलेटिंग एक्ट 1773	बोर्ड ऑफ डायरेक्टर के संविधान में परिवर्तन	फोर्ट विलियम के गवर्नर जनरल और उनकी परिषद। कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायलय की स्थापना	बम्बई और मद्रास प्रांतों की निगरानी हेतु गवर्नर जनरल की परिषद्	उपहारों और रिश्तखोरी पर प्रतिबंध
पिट का इंडिया एक्ट (1784)	6 सदस्यों व एक अध्यक्ष सहित बोर्ड ऑफ कंट्रोल की स्थापना	गवर्नर जनरल को अधिक प्रभावी व शक्ति संपन्न बनाया गया	बम्बई व मद्रास प्रांतों के प्रशासन को गवर्नर-जनरल की परिषद् के अधीन लाया गया।	
चार्टर एक्ट (1813)	ईस्ट इंडिया कंपनी के एकाधिकार की समाप्ति	इसाई मिशनरियों के शैक्षिक व कार्यालयीन खर्चों हेतु बजट उपलब्ध करवाया		कंपनी के कर्मचारियों को ब्रिटेन में प्रशिक्षण
चार्टर एक्ट (1833)	भारत में मुक्त व्यापार प्रथा का समापन	गवर्नर जनरल का नाम गवर्नर-जनरल ऑफ इंडिया किया गया। गवर्नर-जनरल की परिषद में विधि सदस्य को शामिल किया।	गवर्नर जनरल की परिषद को संपूर्ण ब्रिटिश-भारत के लिए कानून बनाने की स्वीकृति	
चार्टर एक्ट (1853)	संरक्षणवादी नीति के स्थान पर खुली प्रतियोगिता परीक्षा की प्रणाली प्रारंभ	विधि (कानून) निर्माण के लिए गवर्नर-जनरल की परिषद में छह (6) अतिरिक्त सदस्यों का समावेश		
भारत शासन अधिनियम 1858	ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थान पर ब्रिटिश ताज का शासन। ब्रिटेन में भारत परिषद व भारत सचिव की नियुक्ति	गवर्नर जनरल को वायसराय नाम दिया गया और वायसराय पर भारत सचिव व भारतीय परिषद का नियंत्रण स्थापित किया गया।		
भारतीय परिषद अधिनियम (1861)		राजकीय विधायी परिषद की स्थापना पोर्टफोलियो प्रणाली का प्रारंभ	प्रांतीय विधान परिषदों की स्थापना	
भारतीय परिषद अधिनियम 1892		प्रांतीय विधान परिषदों व चैम्बर ऑफ कामर्स द्वारा राजकीय विधायकों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन	नगर-पालिका, जिला बोर्ड व विश्वविद्यालयों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन	सभी विधानपरिषद सदस्यों को प्रश्न पूछने व बजट पर चर्चा के अधिकार
मार्ले-मिण्टो सुधार (1909)		विधान परिषदों में सरकारी बहुमत की स्थापना प्रत्यक्ष निर्वाचन, पृथक सांप्रदायिक निर्वाचन	प्रांतीय विधानपरिषदों का विस्तार और उनमें सरकारी बहुमत की समाप्ति	
मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार (1919)	भारत सचिव व उसके सहायकों का वेतन ब्रिटिश सरकार देगी। लंदन में एक भारतीय उच्चायुक्त की नियुक्ति	द्विसदनीय विधानमंडल। विधान-परिषदों में सरकारी बहुमत की समाप्ति। केन्द्र से प्रांतों को कुछ अधिकार व शक्तियों का हस्तांतरण	प्रांतों में द्वैध शासन की शुरुआत प्रांतीय अधिकारों को 'आरक्षित व हस्तांतरणीय विषयों में बाँटा	
भारत शासन अधिनियम 1935		शक्तियों का संवैधानिक बँटवारा। एक संघीय न्यायालय की स्थापना		

NOTES

भारतीय राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के कारण

1. अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीयों में असंतोष
2. भारत का आर्थिक और प्रशासनिक एकीकरण
3. अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में पाश्चात्य शिक्षा का भारत में प्रसार
4. उदारवादी विचारों के प्रसार से समाचार पत्रों की भूमिका
5. समाज व धर्म सुधार आंदोलन व समाज सुधारको का योगदान
6. अंग्रेजों द्वारा नस्लीय भेदभाव

लार्ड लिटन की दमनकारी नीति

- (I) द्वितीय अफगान युद्ध
- (II) दिल्ली का शाही दरबार
- (III) दमनकारी बर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट
- (IV) दमनकारी इंडियन आर्म्स एक्ट

इल्बर्ट बिल विवाद (1883)

वायसराय लार्ड रिपन की विधि परिषद के सदस्य इल्बर्ट ने यह विधेयक प्रस्तुत किया। इस विधेयक में यह प्रावधान था कि भारतीय न्यायाधीश, यूरोपीय अपराधियों के मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकेंगे। इस विधेयक ने भारतीयों की आंखें खोल दी।

कांग्रेस के गठन से पूर्व के संगठन

संगठन का नाम	संस्थापक	वर्ष	स्थान
लैंड होल्डर्स सोसायटी	द्वारकानाथ टैगोर	1830	कलकत्ता
ब्रिटिश इंडिया सोसायटी	विलियम एडम	1839	लंदन
ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन	देवेन्द्रनाथ टैगोर	1851	कलकत्ता
ईस्ट इंडिया एसोसिएशन	दादाभाई नौरोजी	1866	लंदन
पूना सार्वजनिक सभा	चिपलूणकर और रानाडे	1870	पूना
इंडियन एसोसिएशन	ए. एम. बोस एवं एस. एन. बैनर्जी	1876	कलकत्ता

महत्वपूर्ण कांग्रेस अधिवेशन

वर्ष	स्थान	अध्यक्ष	टिप्पणी
1885	बम्बई	डब्ल्यू. सी. बैनर्जी	72 प्रतिनिधि
1886	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	
1887	मद्रास	बदरुद्दीन तैयबजी	प्रथम मुस्लिम कांग्रेस अध्यक्ष
1888	इलाहाबाद	जार्ज यूले	प्रथम अंग्रेज अध्यक्ष
1906	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	स्वराज्य की माँग
1907	सूरत	रासबिहारी घोष	कांग्रेस में फूट पड़ी
1908	मद्रास	रासबिहारी घोष	कांग्रेस का प्रथम संविधान
1916	लखनऊ	ए. सी. मजूमदार	कांग्रेस का एकीकरण और कांग्रेस व मुस्लिम लीग समझौता
1917	कलकत्ता	एनीबेसेंट	प्रथम महिला अध्यक्ष
1920	नागपुर	सी. वी. राघवचारी	कांग्रेस संविधान में परिवर्तन
1922	गया	सी. आर. दास	स्वराज दल की स्थापना

NOTES

1923	दिल्ली (विशेष अधिवेशन)	अबुल कलाम आजाद	सबसे युवा अध्यक्ष
1924	बेलगाँव	महात्मा गांधी	एकमात्र कांग्रेस अधिवेशन जिसकी अध्यक्षता गांधीजी ने की
1925	कानपुर	सरोजिनी नायडू	प्रथम भारतीय महिला अध्यक्ष
1929	लाहौर	जवाहरलाल नेहरू	प्रथम बार पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया
1931	कराची	वल्लभभाई पटेल	मौलिक अधिकार का प्रस्ताव
1934	बम्बई	राजेन्द्र प्रसाद	सी.एस.पी. का निर्माण
1938	हरिपुरा	नेताजी बोस	
1939	त्रिपुरा	नेताजी बोस	सुभाषचन्द्र बोस का कांग्रेस से त्यागपत्र

भारतीय समाचार पत्रों का विकास

पेपर/जर्नल	संस्थापक	वर्ष	स्थान
बंगाल गजट (भारत का प्रथम समाचार पत्र)	जे.ए. हिककी	1780	कलकत्ता
दिग्दर्शन (प्रथम बंगाली मासिक पत्रिका)	उपलब्ध नहीं	1818	कलकत्ता
समाचार दर्पण (प्रथम बंगाली समाचार पत्र)	विलियम कैरी	1818	कलकत्ता
मिरात-उल-अखबार (प्रथम फारसी जर्नल)	राममोहन राय	1822	कलकत्ता
बंगदूत (चार भाषाओं में प्रकाशित साप्ताहिक पत्र)	राममोहन राय	1822	कलकत्ता
बाम्बे टाइम्स (इसका नाम 1861 से टाइम्स ऑफ इंडिया हो गया)	राबर्ट नाइट	1838	बम्बई
रस्त गोफ्तार (एक गुजराती पाक्षिक)	दादाभाई नौरोजी	1851	बम्बई
हिन्दू पेट्रियाट	गिरीशचन्द्र घोष	1853	कलकत्ता
बेंगाटे	गिरीशचन्द्र घोष	1862	कलकत्ता
अमृत बाजार पत्रिका (1978 से अंग्रेजी में भी प्रकाशित)	शिशर कुमार घोष	1868	कलकत्ता
बंगदर्शन (एक बंगाली मासिक)	बी.सी. चटर्जी	1873	कलकत्ता
द हिन्दू	जी.एस.अय्यर	1878	मद्रास
ट्रिब्यून	दयाल सिंह मजीठिया	1881	लाहौर
केसरी और मराठा	बाल गंगाधर तिलक	1881	बम्बई

1857 का विद्रोह : प्रधान कारण

1. देशी शासकों में असंतोष

- लाई डलहौजी की हड़प नीति द्वारा भारतीय राज्यों का विलय
- लाई डलहौजी द्वारा कुशासन के आधार पर अवध का विलय
- देशी राजाओं की पेंशन की समाप्ति
- मुगल राज की समाप्ति से संबंधित डलहौजी और केनिंग की घोषणाएँ

2. सैनिकों, सिपाहियों में असंतोष

- वेतन और पदोन्नति में भारतीय सैनिकों के साथ भेदभाव
- ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा भारतीय सैनिकों से दुर्व्यवाह
- अंग्रेजों द्वारा भत्ता देने से इंकार
- लाई केनिंग के 1856 के अधिनियम का धार्मिक कारणों से हिन्दू सिपाहियों द्वारा विरोध
- अंग्रेजों द्वारा इसाई मिशनियों को प्रोत्साहन दिया जाना

NOTES

3. भारत के परम्परावादी समाज में असंतोष

- (अ) ईसाई मिशनियों की गतिविधियों से असंतोष
 (ब) अंग्रेजों द्वारा किए गए सामाजिक सुधारों को जनता ने अपने धर्म में हस्तक्षेप समझा।
 (स) धार्मिक भूमियों से कर (टैक्स) वसूलने की सरकारी नीतियों से असंतोष

4. जनसमुदाय में असंतोष

- (अ) भारत के हस्तशिल्प और कुटीर उद्योगों के विनाश से हस्तशिल्पियों दस्तकारों और कारीगरों में असंतोष
 (ब) अंग्रेजों की भू-राजस्व व्यवस्था से किसानों में असंतोष
 (स) अंग्रेजों द्वारा सख्ती से भू-राजस्व वसूली से परंपरागत जमींदारों में असंतोष

5. अंग्रेजों का विदेशी होना

- (अ) दूसरे विदेशी आक्रमणकारी कालांतर में भारत का भाग बन गए किंतु अंग्रेज भारतीयों के साथ घुल-मिल नहीं सके।
 (ब) इसका कारण था- उनकी (अंग्रेजों की) नस्लीय उच्चता की भावना

6. सैनिक कारण

- (अ) विभिन्न घटनाओं के कारण ब्रिटिश अपराजेयता के मिथक का टूटना
 (ब) फौज में देशी सिपाहियों और यूरोपीय सिपाहियों का दोषपूर्ण अनुपात

7. तात्कालिक कारण

- (अ) एनफील्ड रायफल और चर्बी वाले कारतूसों की घटना

क्रांति के महत्वपूर्ण केन्द्र और नेतृत्वकर्ता

दिल्ली - बहादुरशाह जफर द्वितीय और जनरल बख्त खान

कानपुर - नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, अजीमुल्लाह खान

लखनऊ - बेगम हजरत महल, अहमदुल्लाह

झांसी - रानी लक्ष्मीबाई

बरेली - बहादुर खान

आरा (बिहार) - कुंवर सिंह

अन्य नेतृत्वकर्ता - फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्ला

जनजाति विद्रोह

जनजाति	क्षेत्र	वर्ष	नेतृत्वकर्ता
चुरस	पश्चिम बंगाल	1768	उपलब्ध नहीं
भील	खानदेश	1818-48	उपलब्ध नहीं
होस	छोटा नागपुर	1820-22	उपलब्ध नहीं
कोली	सहयाद्री पहाड़ियाँ	1824-28	उपलब्ध नहीं
खासी	खासी पहाड़ियाँ	1829-32	तिरुत सिंह एवं मानिकबार
सिंगफो	असम	1830-39	उपलब्ध नहीं

NOTES

कोल	छोटा नागपुर	1831-32	बुद्धो भगत
खोंड	खोंडमाल	1846-48	चक्र बिसाई
संथाल	राजमहल	1856-58	सिद्ध और कान्हू
नाइकदास	पंचमहल	1858-68	रूपसिंह व जोरिया भगत
कच नगास	कचार	1882	शंभूदन
मुण्डा	छोटा नागपुर	1899-1900	बिरसा मुण्डा
भील	राजस्थान	1913	गोविन्द गुरु
ओराँव	छोटा नागपुर	1914-15	जत्रा भगत
थडो कूकी	मणिपुर	1917-19	जादोनांग और गाइदिन्ल्यू
चेन्चू	नल्लामाला	1921-22	हनुमंतु
कोया	रम्पा क्षेत्र	1922-24	अल्लूरू सीता रामराज्

गैर जनजाति आंदोलन

विद्रोह	क्षेत्र	वर्ष	नेतृत्वकर्त्ता
कट्टाबोमन विद्रोह	तिरुनवेली	1792-99	वीर पंड्या
पैका विद्रोह	ओड़िशा	1804-06	खुर्दा का राजा
वेलु थम्बी विद्रोह	द्रावनकोर	1808-09	दीवान
कच विद्रोह	कच	1861-62	राव भारमल
रामोसी विद्रोह	पूना	1822-29	चित्तूर सिंह व उमाजी
कित्तूर विद्रोह	कित्तूर	1824-29	चन्नमाँ
सतारा विद्रोह	सतारा	1840-41	राव पवार
बुन्देला विद्रोह	सागर (म.प्र.)	1842	मधुकर शाह
गडकरी	कोल्हापुर	1844-45	उपलब्ध नहीं
सतवंडी विद्रोह	सतवंडी	1839-45	फोंड सावंत

KOTHARI
GROUP OF INSTITUTIONS